आपकी सेवासे वञ्चित रहा; वनमें आपका स्मरण करता था, आपके चरणोंके प्रसादसे वनमें भी सुखी रहा इत्यादि। (पं० रा० व० श०) आपकी कृपासे, आपके आशीर्वादसे शत्रुपर जय पायी और मुनियोंको अभय किया। (वै०)

टिप्पणी—३ *'गइ बिषम बिपति'* इति। (क)—*'बिषम बिपति'* कहनेका भाव कि यह विपत्ति श्रीरामजीके वियोगसे उत्पन्न हुई और श्रीरामजीके संयोगहीसे गयी। यह विषम थी, बिना रामदर्शनके अन्य किसी प्रकारसे न जा सकती थी। (ख)—*'तिन्ह हरष सुख अगनित लहे।'* हर्ष और सुख एक ही बात दो बार कहनेका भाव कि श्रीरामजीके भेंटनेसे हर्ष हुआ और मृदु वचन सुननेसे सुख हुआ।*

रा० शं० श०—*'बचन मृदु कहे'* *'गइ बिषम बिपति बियोग.........'* और *'हरष सुख लहे'* के क्रमका भाव कि इसी विपत्ति-दुःखकी निवृत्ति और हर्ष एवं सुखकी प्राप्तिके लिये ये वचन कहे गये थे। वनगमनकी खबर देते समय भी *'कहेउ मातु सन अति मृदु बानी'* पर वह वचन *'सर सम लगे मातु उर करके'* थे; उसके बदलेमें यहाँ मृदु वचन कहकर प्रभुने अगणित सुख दिये।—[मृदु भाषण तो प्रभुका स्वभाव ही है, सदा मृदु वचन बोलते हैं, पर यहाँ विषम दुःख मिटाना है इससे मृदु वचन *'बहु बिधि'* कहे। जैसे-जैसे एक-एक विधिसे कहते थे तैसे-तैसे नवीन सुख होता था, *'बहु बिधि'* कहे इसीसे 'अगणित' सुख दिये।]

दो०—भेटेउ तनय सुमित्रा रामचरन रति जानि।
रामहि मिलत कैकई हृदय बहुत सकुचानि॥
लछिमन सब मातन्ह मिलि हरषे आसिष पाइ।
कैकइ कहँ पुनि पुनि मिले मन कर छोभु न जाइ॥ ६॥

शब्दार्थ—**क्षोभ**=विचलता।=खलबली, व्याकुलता, खेद। यथा—*'भयउ ईस मन छोभ बिसेषी॥'*

अर्थ—श्रीसुमित्राजी पुत्र-(लक्ष्मणजी-) को श्रीरामचरणोंमें अनुरक्त जानकर उससे मिलीं। श्रीरामजीसे मिलते हुए कैकेयीजी हृदयमें बहुत सकुचायीं। श्रीलक्ष्मणजी सब माताओंसे मिलकर आशीर्वाद पाकर हर्षित हुए। कैकेयीजीसे बारंबार मिले पर मनका क्षोभ नहीं जाता॥ ६॥

टिप्पणी—१ (क) *'रामचरन रति जानि'* का भाव कि श्रीसुमित्राजी लक्ष्मणजीको पुत्र जानकर नहीं भेंटीं वरन् रामचरणानुरक्त जानकर भेंटीं। ☞यहाँ दिखाया कि पुत्रादिमें ममता न करनी चाहिये, रामजीके नाते ममत्व करना चाहिये, यथा—*'पूजनीय प्रिय परम जहाँ तें। सब मानिअहिं राम के नातें'*—[सब माताओंसे लक्ष्मणजीका मिलना कहा पर उनका स्वयं श्रीसुमित्राजीसे मिलना न कहकर सुमित्राजीका उनसे मिलना कहा, इस भेदका कारण सुमित्राजीका उपदेश है। माता सुमित्राने उपदेश ही दिया था कि *'तात तुम्हारि मातु बैदेही।'* (२। ७४। २) तब भला वे इनको माता समझकर कैसे मिलने जाते? यदि स्वयं जाकर मिलते तो स्पष्ट था कि उन्होंने उपदेशको मिट्टीमें मिला दिया। वे यहाँ कसौटीपर पूरे उतरे।]† (ख) कैकेयीजी बहुत सकुचायी हुई हैं। इसीसे संकोचके मारे वे सब माताओंके पीछे मिलीं। जल्दी वा पहले न मिल सकीं।

---

* बैजनाथजी लिखते हैं कि माताओंने यह सोचकर सुख बहुत पाया कि हमारे पुत्र ऐसे वीर पराक्रमी हुए कि त्रैलोक्य इनसे सुखको प्राप्त हुआ तब यह वियोग भी सुखरूपी हुआ; अहोभाग्य कि हम ऐसे पुत्रोंकी माता हुईं कि जिनका यश त्रिभुवनमें फैला है और अब इनके राज्यका सुख देखेंगी।

† रा० शं०—विभीषणजीकी रक्षामें अपने ऊपर शक्ति ले ली, जिसमें श्रीरामजीके पनकी रक्षा हो, यथा—'सेवक सखा भगति भायप गुन चाहत अब अथये हैं। मेरे पनकी लाज इहाँ लौं हठि प्रिय प्रान दये हैं। लागत साँग बिभीषन ही पर सीपर आपु भये हैं।' (गी०).........इसीसे रामचरणरत जाना।

कैकइ कहँ पुनि पुनि मिले मन कर छोभु न जाइ

पं० रा० व० श०—गोस्वामीजीने जान-बूझकर ऐसे शब्द रखे कि दोनों ओर लगा सकें; नहीं तो वे स्वयं स्पष्ट लिखते कि किसको क्षोभ हुआ। श्रीलक्ष्मणजीका श्रीरामजीमें इतना प्रेम है कि कैकेयीको देखकर सोचते हैं, ये तो बहुत सकुचा रही हैं, श्रीभरतजीकी माता हैं। इनका परम प्रेम श्रीरामजीमें है पर इतनी बात इनसे न बनी कि वनवास दे दिया। ठीक इसी प्रकार भरतजीका श्रीराममें अत्यन्त प्रेम होनेसे माताकी ओरसे उनके हृदयका क्षोभ भी न गया, यद्यपि श्रीरामजीने उनको बहुत समझाया है पर उन्होंने कैकेयीको फिर जन्मभर माता न कहा। इससे लक्ष्मणजीका श्रीराममें अत्यन्त प्रेम झलकता है। दूसरी ओर कैकेयीके मनमें भी क्षोभ है कि ये धन्य हैं कि माता-पिता-परिवार सबको छोड़ श्रीरामजीके साथ वन गये और मैं ऐसी अभागिनी, ऐसी विमुखा कि मैंने उन रामजीको वनवास दिया।

शीला—लक्ष्मणजी सब माताओंसे मिले और सबसे आशीर्वाद पाकर सुखी हुए। कैकेयीजी अपनी करनी विचार संकोचवश हैं, इसीसे लक्ष्मणजीके मिलनेपर उन्होंने आशीर्वाद न दिया। लक्ष्मणजी आशिषके लिये बारम्बार मिलते हैं। पुनः, वनयात्रा-समय लक्ष्मणजीने बहुत दुर्वचन कहे थे, उनके क्षमाहेतु बार-बार मिलते हैं और कैकेयीजी यह समझकर कि मुझे चिढ़ाते हैं अति संकुचित हुईं। इस कारण आशीर्वाद न पानेसे लक्ष्मणजीके मनमें जो अपने दुर्वचनोंका क्षोभ था वह न मिटा।—[वीर—क्षोभ इस बातका कि हमने इसपर बड़ा क्रोध मनमें किया था, पर अब इसे निर्दोष समझते हैं।]

वै०—मनका क्षोभ नहीं जाता इसीसे बार-बार मिलते हैं। लक्ष्मणजी सोचे कि हम तो इससे भरत-ऐसे श्रीरामानुरागीकी माता जान शुद्ध स्नेहसे मिलते हैं, पर ये हमको रूठा ही समझती होंगी, यह क्षोभ मिटाने और हृदयकी शुद्धता प्रकट करनेके लिये बारम्बार मिलते हैं।

मा० म०—लक्ष्मणजीके कैकेयीसे बारम्बार मिलनेके भाव कि—१ वनगमन-समय नहीं मिले थे। वा, २—अब अनुरागी जाना। वा, ३—अब फिर विघ्न न करे। वा, ४—अब भी रहकर सुखकी रक्षा करे। वा, ५—शत्रु-मित्र न जाना जाय। वा, ६—वह कहीं श्रीरामचन्द्रकी सेवासे मुझे पृथक् न करे इस अपने सुखके लोभसे मिले। लक्ष्मणजीके मनमें यह क्षोभ था कि इसने प्रभुको दुःख और मुझको श्रीरामचन्द्रजीकी सेवारूपी सुख दिया।

करु०—यदि कहें कि लक्ष्मणजीके मनमें क्षोभ था तो '*पुनि पुनि*' पदसे विरोध पड़ता है। '*पुनि पुनि*' अतिप्रीति प्रकट करता है, प्रीतिमें फिर क्षोभ कहाँ? इससे कैकेयीके मनमें क्षोभ होना पाया जाता है। उनके मनमें यह क्षोभ हुआ कि—१ श्रीलक्ष्मणजीने मुझसे इतना प्रेम किया कि पुनि-पुनि मिले, पर मुझसे कुछ न बना, अब क्या करूँ? वा, २—'*पुनि पुनि*' मिलनेसे प्रीति और व्यंग्य दोनों सूचित होते हैं; इससे कैकेयीजी सोचती हैं कि ये न जानें क्या करें। अथवा, ३—लक्ष्मणजी बारम्बार इससे मिले कि यह रामानन्य श्रीभरतजीकी माता हैं। इन्हींकी कृपासे मुझे श्रीसीतारामजीकी सर्वकाल ऐकान्तिक अनन्य पूर्ण सेवा प्राप्त हुई। क्षोभ यदि इनके मनमें कहें तो यह कि अब कोई विघ्न न करें।

पं० रामकुमारजी—श्रीलक्ष्मणजीके मनका क्षोभ नहीं जाता, वे चाहते हैं कि पुनि-पुनि कैकेयी मातासे मिलें, इस माताने हमारा बड़ा उपकार किया है, इन्हींकी कृपासे मुझे १४ वर्ष रामचन्द्रजीकी (ऐकान्तिक) सेवा मिली। इनके प्रसादसे यह उपकार मानकर पुनः-पुनः मिलते हैं, मिलनेपर मनकी तृप्ति नहीं होती। —(पां०) यदि लक्ष्मणजीके मनमें गाँस होती तो कैकेयीसे पुनि-पुनि क्यों मिलते? जिससे मन नाराज (कुढ़ा हुआ) होता है उससे तो एक बार भी मिलते नहीं बनता।

पं०—सब माताओंसे हर्षसहित और कैकेयीसे क्षोभसहित मिलनेमें भाव यह है कि रघुनाथजी तो ईश्वर हैं उनकी समता ही उचित है, लक्ष्मणजी भक्त हैं इनको स्वामिविमुखोंके साथ स्नेह उचित नहीं।

श्रीनंगे परमहंसजी—'कैकेयीको मनमें वनवास देनेका क्षोभ (दुःख, खेद) था। उस खेदको निकालनेके अर्थ श्रीलखनलाल अपना प्रेम प्रकट करके बार-बार मिले, पर उसके मनसे वह खेद नहीं निकलता है।

यदि कहिये कि उन्होंने लक्ष्मणजीको तो वन नहीं दिया था उनसे क्यों संकोच करेंगी, तो उत्तर यह है कि स्वामीको वन दिया तो क्या सेवक बाकी है? क्या सेवक स्वामीकी सेवा छोड़ घर रह सकता है? कभी नहीं। अतः जब सेवक भी साथ बन गया और कष्ट उठाया तब उससे कैकेयी क्यों न संकोच करेंगी?'.........

'कैकेयीकी बदौलत हमको जंगलमें श्रीरामजीकी सेवाका सौभाग्य प्राप्त था, अतः वे बार-बार उससे मिलते थे.......।' ऐसा अर्थ करना अयोग्य है; क्योंकि किसी सेवकके स्वामीको दुःख हो और उस दुःखकी सेवा सेवकको मिले तो यह सेवक अपने स्वामीके दुःखसे प्रसन्न हो कि हमको भले स्वामीकी सेवा मिली ऐसा कदापि नहीं होगा और जब स्वामीके दुःखसे सेवक प्रसन्न ही नहीं तब दुःख देनेवालेका एहसान कब मानेगा। इसी तरह जब लक्ष्मणजी रामजीको वन देते समय कैकेयीसे प्रसन्न ही नहीं थे तब कैकेयीके वन देनेका एहसान कब मान सकते हैं? एहसान मानना कहना महान् अयोग्य है। और जो सुमित्राजीके वचन हैं कि *'तुम्हरे भाग्य राम बन जाहीं।'* इत्यादि, वे कृपिणपक्षमें हैं अतः सन्तोषजनक हैं।.....'

प० प० प्र०—श्रीलक्ष्मणजी कैकेयीविषयक कृतज्ञतासे मिले, यह मानना उनके स्वभावके विरुद्ध है। श्रीरामजीको दुःख देनेवालेको वे शत्रु ही मानते हैं।

यहाँ भाव यह है कि जब श्रीरामजी ही कैकेयीजीसे मिले तब लक्ष्मणजीका भी उनसे मिलना आवश्यक हो गया। कैकेयीके मनका क्षोभ नहीं गया, यही सत्य है। *'फिरि पछितैहसि अंत अभागी'* दशरथजीका यह वाक्य यहाँ चरितार्थ हुआ। अयोध्याकाण्डमें भी कह आये हैं—*'लखि सिय सहित सरल दोउ भाई। कुटिल रानि पछितानि अघाई॥'* (२। २५२) लक्ष्मणजी तो सरल हैं, यह इस उद्धरणसे स्पष्ट है। अतः उनमें क्षोभ मानना ठीक नहीं। हम नंगे परमहंसजीके मतसे सहमत हैं।

सासुन्ह सबन्हि मिली बैदेही। चरनन्हि लागि हरषु अति तेही॥ १॥
देहिं असीस बूझि कुसलाता। होइ अचल तुम्हार अहिवाता॥ २॥

अर्थ—सब सासुओंसे वैदेही श्रीजानकीजी मिलीं और उनके चरणोंमें लगकर (पालागन करके) उनको अत्यन्त हर्ष हुआ॥ १॥ (सासुएँ) कुशल पूछ-पूछकर आशीर्वाद देती हैं कि तुम्हारा सुहाग अचल हो॥ २॥*

टिप्पणी—१ *'सासुन्ह सबन्हि मिली बैदेही.........'* इति। (क) श्रीसीताजी अनेक रूप धारण करके सासुओंसे मिलीं इसीसे 'वैदेही' पद दिया। विदेह योगी हैं, यथा—'**जनको योगिनां वरः**।' योगी अनेक रूप धारण कर सकता है। श्रीसीताजी उनकी कन्या हैं।—[चरणोंसे लगकर मिलना यह स्त्रियोंकी रीति है। 'अतिहर्ष' के सम्बन्धसे 'वैदेही' पद दिया—(रा० प्र०) 'चित्रकूटमें भी तो अनेक रूप बनाये थे और सासुओंकी सेवा की थी, पर वहाँ 'वैदेही' नाम न देकर 'सीय' माधुर्य नाम ही दिया था। इससे रा० प्र० का मत ही विशेष संगत है। वैदेही शब्दसे जनाया कि 'अति हर्ष' से वे विदेह दशाको प्राप्त हो गयी, मारे आनन्दके देहसुध भूल गयीं।] (ख) श्रीरामजीने माताओंमें मन-वचन-कर्म तीन प्रकारकी भक्ति की, यथा—*'अति प्रेम प्रभु सब मातु भेटीं बचन मृदु बहुबिधि कहे।'* श्रीसीताजीने माताओंमें मन और कर्म दो प्रकारकी भक्ति की—*'हर्ष अति'* (मन), *'मिली चरनन्हि लागि'* (कर्म)। लज्जावश वचन न बोल सकीं, इससे 'वचन' की भक्ति न दिखायी। (ग), *'अति हरषु'* का भाव कि जब-जब सासुओंसे मिलीं तब-तब हर्ष हुआ, जब चरणोंमें लगीं तब 'अति हर्ष' हुआ। पुनः, सासुओंमें इनका अति प्रेम है, इसीसे उनसे मिलनेसे अति हर्ष हुआ।

वि० त्रि०—भगवती वैदेहीका बड़ा प्रेम सासुओंपर है, बड़ी उत्कण्ठा है कि मैं उनकी सेवा करूँ। उनकी सेवासे वञ्चित रहनेमें अपना बड़ा अभाग्य माना, यथा—*'सुनिअ मातु मैं परम अभागी। सेवा समय दैव बन दीन्हा।' 'मोर मनोरथ सुफल न कीन्हा।'* यहाँतक कि चित्रकूटमें सब सासोंसे भेंट हुई, तो *'सीय सासु प्रति बेष बनाई। सादर करइ सरस सेवकाई॥'* अतः अब उनकी सेवाका सुअवसर प्राप्त होनेसे अपने

* 'ततः सीताऽपि श्वश्रूः सा प्रणनाम त्वरन्धतीम्॥ ९०॥ ततः सीतां समालिंग्य कौसल्याद्याश्च मातरः।' आ० रा० १। १२॥

मनोरथका साफल्य तथा भाग्योदय मानती हैं, अतः उन्हें बड़ा हर्ष है, नहीं तो स्वभावसे उन्हें वन ही प्रिय है, यथा—*'मैं बन सुखी सुभाय।'* [रा० शं०—सीताजी चरणोंसे लगीं, तब माताओंने उठाकर गले लगाया, अतः *'चरनन्हि लागि', 'मिली बैदेही'* कहा।]

२ (क) *'देहिं असीस बूझि कुसलाता'* लिखकर दूसरे चरणमें बताते हैं कि क्या आशीर्वाद देती हैं। 'तुम्हारा सौभाग्य अचल हो', यही आशीर्वाद स्त्रियोंके लिये मुख्य है। श्रीजानकीजी चरणोंमें लगीं, इसीसे आशीर्वाद देती हैं और कुशल अपनी ओरसे पूछती हैं। माताएँ कुशल पूछती हैं पर श्रीजानकीजी कुछ उत्तर नहीं देतीं क्योंकि भीड़ बड़ी है, वे संकोचवश बोल न सकीं। (ख) कुशल पूछकर आशिष देनेका भाव यह है कि जब कुशल पूछनेपर उसने संकोचवश कुछ उत्तर न दिया तब उनका यह संकोची स्वभाव और नम्रता देखकर सब माताएँ प्रसन्न हुईं और आशीर्वाद देने लगीं। [रघुनाथजी समीप हैं इससे संकोचवश उत्तर नहीं दिया। (रा० शं०)]

सब रघुपति मुख कमल बिलोकहिं। मंगल जानि नयन जल रोकहिं॥ ३॥
कनक थार आरती उतारहिं। बार बार प्रभु गात निहारहिं॥ ४॥
नाना भाँति निछावरि करहीं। परमानंद हरष उर भरहीं॥ ५॥

अर्थ—सब माताएँ श्रीरघुनाथजीका मुखकमल देखती हैं और मङ्गल-समय जानकर नेत्रोंका जल रोकती हैं॥ ३॥ सोनेके थालमें आरती उतारतीं, बारम्बार प्रभुके अङ्गोंको गौरसे देखतीं, अनेक प्रकारकी एवं अनेक प्रकारसे निछावरें करतीं और परमानन्द तथा हर्ष हृदयमें भर रही हैं॥ ४-५॥

टिप्पणी—१ *'सब रघुपति मुख कमल बिलोकहिं·········'* इति। (क) मुख देखना वात्सल्यरसके भावसे है, यथा—*'जननिन्ह सादर बदन निहारे। भूपति संग द्वार पगु धारे॥'* (१। ३५८। ८) *'सादर सुंदर बदन निहारी। बोली मधुर बचन महतारी॥'* (३। ५२। ६) *'भए मगन देखत मुख सोभा।'* (१। २०७। ६) इत्यादि। (ख) *'नयन जल रोकहिं'*। मङ्गल-समयमें अश्रुपात करना अमङ्गल है, इसीसे नेत्रोंका जल रोकती हैं। श्रीरामजीको देखकर माताओंके नेत्रोंमें जल आता है, उसीको रोकती हैं। अथवा, 'रघुपति मुख-कमलका अवलोकन' मङ्गल है, ऐसा जानकर नेत्रोंसे जल गिरने नहीं देतीं, क्योंकि अश्रुपात इस अवलोकनरूपी मङ्गलका बाधक है, आँसुओंके आनेसे मुख अच्छी तरह नहीं देख पड़ेगा। *'कमल'* से मुखका सुन्दर प्रफुल्लित होना सूचित किया।

२ (क)—*'कनक थार आरती उतारहिं'* इति। पूर्व कह आये हैं कि *'भरि भरि हेम थार भामिनी। गावत चलीं सिंधुरगामिनी॥'* अब यहाँ हेमथारका साफल्य कहते हैं—*'कनक थार·········'*। (ख) *'बार बार प्रभु गात निहारहिं'* क्योंकि अङ्ग अति सुन्दर हैं, यथा—*'मृदुल मनोहर सुंदर गाता।'* दूसरे राक्षसोंसे भारी संग्राम हुआ है, किसी अङ्गमें घाव तो नहीं लगा है—यही भाव आगेकी चौपाइयाँ कह रही हैं, यथा—*'कौसल्या पुनि पुनि रघुबीरहिं। चितवति कृपासिंधु रनधीरहिं॥'* इत्यादि।—[मनोहर रूप देखती हैं, फिर यह सोचकर कि नजर न लग जाय, दृष्टि फेर लेती हैं, फिर भी देखे बिना रहा नहीं जाता, तब फिर देखने लगती हैं। यह मूर्ति ही ऐसी है कि बार-बार दर्शन करनेपर भी तृप्ति नहीं होती। यथा—*'चितवहिं सादर रूप अनूपा। तृप्ति न मानहिं मनु सतरूपा॥'* (१। १४८) इत्यादि। (रा० शं०)]

३ (क)—*'नाना भाँति निछावरि करहीं·········'* अर्थात् मणि, वस्त्र, भूषण, रथ, गज आदि निछावर करती हैं। यथा—*'करहिं आरती बारहिं बारा। प्रेम प्रमोदु कहै को पारा॥ भूषन मनि पट नाना जाती। करहिं निछावर अगनित भाँती॥'* (१। ३४९। १-२) [अथवा अनेक प्रकारसे अर्थात् कितने ही पदार्थ सिरपर, कितने ही भुजाओंपर और कितने ही चरणोंपर वारण करती हैं। (पं०)] (ख) परमानन्द और हर्ष यहाँ दो समानार्थक शब्द देनेका भाव कि प्रभुके शरीरके दर्शनसे परमानन्द हुआ और आरती तथा निछावर करनेमें हर्ष होता है। वा, यहाँ परमानन्दकी वीप्सा है, यथा—'**विस्मये कोपे चैवं हर्षे दैन्येऽवधारणे। प्रसादे**

चानुकम्पायां पुनरुक्तिर्न दूष्यते।' (प्र० स्वामीजी कहते हैं कि यहाँ हर्षका अर्थ उत्साह लेना चाहिये। श्रीरामरूपको देखकर परमानन्द हुआ और आरती उतारने तथा निछावर करनेमें बहुत उत्साह है।)

कौसल्या पुनि पुनि रघुबीरहिं। चितवति कृपासिंधु रनधीरहिं॥ ६॥
हृदय बिचारति बारहिं बारा। कवन भाँति लंकापति मारा॥ ७॥
अति सुकुमार जुगल मेरे बारे। निसिचर सुभट महाबल भारे॥ ८॥

अर्थ—श्रीकौसल्याजी बारम्बार रघुवीर, दयासागर, रणधीर श्रीरामजीको देखती हैं। बारम्बार हृदयमें विचार करती हैं कि इन्होंने किस प्रकार लङ्केश्वर रावणको मारा॥ ७॥ मेरे दोनों बालक अत्यन्त कोमल हैं और राक्षस उत्तम योद्धा, महाबलवान् और भारी-भारी होते हैं॥ ८॥

टिप्पणी—१ (क) जैसे सब रानियाँ बार-बार प्रभुके शरीरको देखती हैं वैसे ही कौसल्याजी भी बारम्बार देखती हैं। *'कृपासिंधु रनधीरहिं'* का भाव कि सुग्रीव, विभीषण, देवता, मुनि तथा सभी भक्तोंपर कृपा करनी थी, इसीसे उन्होंने रणधीर बनकर रावणादि दुष्टोंका वध किया।—[*'कृपासिंधु'* का भाव कि लङ्काका राज्य त्यागकर हमको दर्शन दिया। 'रणधीर' इससे कहा कि लक्ष्मणशक्ति आदि अनेक कष्ट उपस्थित होनेपर भी धैर्यका त्याग न किया। *'पुनि पुनि'* वात्सल्यकी अधिकतासे। *'कृपासिंधु'* 'रणधीर' विरोधी गुण हैं अतः पुनः-पुनः देखती हैं। (रा० शं०)। *'कृपासिंधु'* शब्दसे ऐश्वर्यभावका मिश्रण भी माधुर्यभावमें देखा जाता है। (ख) अन्य माताओंके देखनेके सम्बन्धमें *'रघुपति'* शब्द दिया, यथा—*'सब रघुपति मुख कमल बिलोकहिं।'* (चौ० ३) और यहाँ *'रघुबीर'* शब्द दिया। इस भेदद्वारा जनाया कि कौसल्याजीके विचारोंसे श्रीरामजीकी युद्धवीरता तथा दयावीरता ये ही दोनों गुण अग्रसर हैं। (प० प० प्र०)]

☞ भगवान्‌को जितनी प्रसन्नता सम्पूर्ण जीवोंपर दया करनेसे होती है उतनी प्रसन्नता नाना प्रकारकी कामनाएँ रखनेवाले देवताओंके द्वारा भाँति-भाँतिकी सामग्रियोंसे पूजित होनेपर भी नहीं होती। यथा—'**नाति प्रसीदति तथोपचितोपचारैराराधितः सुरगणैर्हृदि बद्धकामैः। यत्सर्वभूतदयया**.........।' (भा० ३। ९। १२) इसीसे वे कृपासिन्धु कहलाते हैं।—

२ (क) *'हृदय बिचारति बारहिं बारा',* इससे जनाया कि विचार हृदयमें ठहरता नहीं, क्योंकि श्रीरामजीने बड़ा आश्चर्य किया है। जब ताड़का और मारीच-सुबाहुको मारा, धनुष तोड़ा, परशुरामको जीता, तब कौसल्याजीके हृदयमें यह विचार आया कि ये सब बातें विश्वामित्रमुनिकी कृपासे हुईं, यथा—*'सकल अमानुष करम तुम्हारे। केवल कौशिक कृपा सुधारे॥'* (१। ३५७। ६) (ख) *'कवन भाँति'* कहनेका भाव कि कोई भाँति मनमें निश्चित नहीं होती कि '**इस भाँति**' रामजीने रावणको मारा। यही विचार अगली चौपाईमें है। (ग) *'लंकापति'* कहनेका भाव कि लङ्का महान् कठिन गढ़ है, यथा—'**त्रिदशैरपि दुर्धर्षा लंका नाम महापुरी**' (*'जानत परम दुर्ग अति लंका।'* (लं० ३८। ९) देखो), उस लङ्काके पतिको मारा। [*'लंकापति'* से यह भी जनाया कि वह बड़ा शूर प्रतापी और अतुल बलवाला था, उसकी सेना अतुलित बली थी, उसका एक-एक सुभट अकेले ही सारे जगत्‌को जीत सकता था, ऐसा न होता तो वह लङ्कामें बस नहीं सकता था, यथा—*'हरि प्रेरित जेहि कलप जोइ जातुधानपति होइ। सूर प्रतापी अतुल बल दल समेत बस सोइ॥'* (१। १७८)]

पं० रा० व० श०—*'चितवति कृपासिंधु रनधीरहिं'।* श्रीभरतजीसे सुन चुकी हैं कि रावणादिका वध किया है, अर्थात् रणधीर होना सुना है। अतः उनके अङ्गोंको देखती हैं पर किसी अङ्गमें कठोरता नहीं देख पड़ती अतः सोचती हैं कि इन्होंने कैसे रावणको मारा। वाल्मी० में लिखा है कि कौसल्याजी जब रघुनाथजीको देखतीं तो वे ऐसे ही सुकुमार लगते थे जैसा कोई बालक हो, यथा वाल्मी० अ० ४३। १६ '**कदा परिणतो बुद्ध्या वयसा चामरप्रभः। अभ्युपैष्यति धर्मात्मा सुवर्ष इव लालयन्॥**' अतः कहती हैं कि *'अति सुकुमार जुगल मेरे बारे।'*

३—ये *'अति सुकुमार'* हैं इसकी जोड़में कहती हैं कि निशिचर सुभट हैं अर्थात् बड़े कठोर हैं। ये 'बारे' हैं अर्थात् छोटे हैं और शरीरसे बलवान् नहीं हैं, इसके विरुद्ध उधर राक्षस 'महाबली' और

'भारी' हैं। पुनः, ['मेरे बारे युगल अर्थात् दो ही थे और निशिचर अनेक थे; उसपर भी रावण दस सिर और बीस भुजावाला था।, (पं०) युगल कहकर उधर अनेक सूचित किये। वीर कविजी यहाँ रसाभास अलङ्कार बताते हैं, क्योंकि रावणादि मर चुके हैं, अब चिन्ता अनुचित है।]

पं० रा० व० श०—*'अति सुकुमार जुगल मेरे बारे।………'* इति। जिस रस, जिस भावद्वारा प्रभुकी उपासना भक्त करते हैं उसीके अनुकूल उन भक्तोंके लिये भगवान् रूप धारण कर लेते हैं। प्रभु वही हैं पर आश्रित जब फूलके गेंद मारते हैं तो उससे उन्हें कसक होती है। वही अङ्ग हैं और वही प्रभु कि रावणके बाणको आगे बढ़कर लेते हैं और माताके लिये अति सुकुमार हैं। भागवतमें ब्रह्माजी भगवान्की स्तुति करते हुए कहते हैं कि आप अपने भक्तोंके भावयोगसे शुद्ध किये हुए हृदयकमलमें सदा विराजते हैं और जिस भावसे वे आपकी भावना करते हैं आप वेदसे देखे हुए मार्गद्वारा उसी तरहका रूप धारण करते हैं। यथा—**'त्वं भावयोगपरिभावितहृत्सरोज आस्से श्रुतेक्षितपथो ननु नाथ पुंसाम्। यद्यद्धिया त उरुगाय विभावयन्ति तत्तद्वपुः प्रणयसे सदनुग्रहाय।'** (भा० ३। ९। ११)

वे० भू०—यहाँ यह प्रश्न सम्भव हो सकता है कि जनकपुरसे लौटनेपर तो श्रीरामचन्द्रजीको देखते ही माताओंका वैसा विचार क्यों नहीं हुआ जैसा कि लङ्कासे लौटनेपर श्रीरामभद्रजूको देखते ही हुआ था? उसका उत्तर वहाँ-वहाँका प्रकरण दे रहा है कि जनकपुरसे लौटनेपर उत्सवका समय था, वर-बधुओंका परिछन एवं अन्य आवश्यक नेगचार तथा लौकिक-वैदिक रीतियाँ करनी आवश्यक थीं। इससे तुरन्त ही इन बातोंकी तरफ गौर करनेका किसीके हृदयको अवकाश ही नहीं था और जब अवकाश मिला तब श्रीरामभद्रजूके शयनकक्षमें एकत्र होकर सभी माताएँ तत्सम्बन्धी चर्चा करने लगी थीं। परन्तु श्रीरामभद्रजूके वनसे लौटनेपर आते ही मिलकर आरती उतारनेके अतिरिक्त कोई अन्य वैदिक या लौकिक रीति तो करनी थी ही नहीं, इससे मिलनेके बाद तुरन्त ही *'सब रघुपति मुखकमल बिलोकहिं।………'*

दो०—लछिमन अरु सीता सहित प्रभुहि बिलोकति मातु।
परमानंद मगन मन पुनि पुनि पुलकित गातु॥ ७॥

अर्थ—श्रीलक्ष्मणजी और श्रीसीताजीसहित प्रभु रामचन्द्रजीको माता (कौसल्याजी) देखती हैं, उनका मन परमानन्दमें डूबा हुआ है और शरीर बारम्बार पुलकायमान होता है॥ ७॥

टिप्पणी—१ 'लक्ष्मण और सीतासहित' कहनेका भाव कि प्रथम श्रीकौसल्याजी केवल श्रीरामचन्द्रजीको देखती रहीं, जिससे पाया गया कि उनकी प्रीति केवल श्रीरामजीमें है, इसीसे यहाँ कहते हैं कि श्रीसीता-लक्ष्मणसहित श्रीरामजीको देख रही हैं। २—*'परमानंद मगन मन'* कहनेका भाव यह कि इनको देखकर सब माताओंको परम आनन्द होता है, यथा—*'नाना भाँति निछावरि करहीं। परमानंद हरष उर भरहीं।'* इसीसे कौसल्याजीके हृदयमें भी परम आनन्द होना वर्णन करते हैं।—['परमानन्द' से जनाया कि इसका आनन्द विषयानन्द, चक्षुषानन्द, प्रजापतिका आनन्द और ब्रह्मानन्दसे कहीं अधिक है—पं० रा० व० श०] ३—*'पुनि पुनि पुलकित गातु'।* भाव कि माताजी श्रीसीता-लक्ष्मण-समेत रामजीको जितनी बार देखती हैं उतनी ही बार पुलकावली होती है।

लंकापति कपीस नल नीला। जामवंत अंगद सुभ सीला॥ १॥
हनुमदादि सब बानर बीरा। धरे मनोहर मनुज सरीरा॥ २॥
भरत सनेह सील ब्रत नेमा। सादर सब बरनहिं अति प्रेमा॥ ३॥
देखि नगर बासिन्ह कै रीती। सकल सराहहिं प्रभु पद प्रीती॥ ४॥

अर्थ—लङ्कापति श्रीविभीषणजी, कपिपति श्रीसुग्रीवजी, नल, नील, जाम्बवन्त, अङ्गद और हनुमान्जी इत्यादि सब उत्तम स्वभाववाले वीर वानरोंने सुन्दर मनुष्य-शरीर धारण किये॥ १-२॥ सब अत्यन्त प्रेमसे

आदरसहित श्रीभरतजीके प्रेम, शील, व्रत और नियमका वर्णन कर रहे हैं॥ ३॥ और पुरवासियोंकी सब रीति (रामप्रति व्यवहार) देखकर सब-के-सब प्रभुके चरणोंमें उनके प्रेमकी बड़ाई कर रहे हैं॥ ४॥

टिप्पणी—१ *'धरे मनोहर मनुज सरीरा'* इति। मनुष्यशरीर धारण करनेका भाव यह है कि मनुष्य-समाजमें आये हैं, इनके बीचमें उन्हींके समान रहना चाहिये। और अपना रूप यह जानकर त्याग दिया कि राक्षस और वानर-शरीर अधम शरीर हैं, मङ्गल-समयके योग्य नहीं हैं। अवधवासी सब मनोहर हैं, यथा—*'अल्प मृत्यु नहिं कवनिउ पीरा। सब सुंदर सब बिरुज सरीरा',* इसीसे सब वानरोंने भी सुन्दर रूप धारण किये।

नोट—ये सब वानर और राक्षस कामरूपी थे, जब जैसा रूप चाहें धारण कर सकते थे। वानर देवता ही थे जो वानररूपसे रावणवध-कार्यमें सहायताके लिये अवतीर्ण हुए। यथा—*'बनचर देह धरी छिति माहीं'* (१। १८८) सबने मनुष्य-शरीर धर लिया। यह वाल्मी०, अ० रा० आदिमें भी कहा गया है। यथा—**'ते कृत्वा मानुषं रूपं वानराः कामरूपिणः। कुशलं पर्यपृच्छंस्ते प्रहृष्टा भरतं तदा।'** (वाल्मी० ६। १३०। ४३-४४) (च० सं०), **'सर्वे ते मानुषं रूपं कृत्वा भरतमादृताः। पप्रच्छ कुशलं सौम्याः प्रहृष्टाश्च प्लवङ्गमाः।'** (अ० रा० ६। १४। ८) मानसका मत यह जान पड़ता है कि नगरमें प्रवेश करनेके पूर्व ही सबने मनुष्यरूप धारण कर लिया था। वाल्मीकिजीका भी यही मत है। भेद केवल इतना है कि वहाँ भरतजीको विमानपर बिठा लिया गया है और वहीं सबसे श्रीभरतजी मिले हैं। वहीं सब वानरोंने मनुष्यरूप धर लिया था।

वि० त्रि०—उस समयके अनुकूल अपने कराल शरीरको उचित न समझकर (यथा—*'अमित नाम भट कठिन कराला। अमित नाग बल बिपुल बिसाला'*) सबने मनुष्य-शरीर धारण कर लिया और ऐसा सुन्दर रूप धारण किया कि देखनेवालेके मनको हरण कर ले, फिर भी उन रूपोंमें ऐसी झलक थी कि वे पहिचाने जाते थे। आकृतिका कर्मोंसे घना सम्बन्ध है। भौतिक शरीर छूटनेपर भी दैवी शरीरमें उस आकृतिका प्रभाव बना रहता है। देखिये महाराज दशरथ देव-शरीरमेंसे भी पहिचाने गये। यथा—*'तेहि अवसर दसरथ तहँ आये। तनय बिलोकि नयन जल छाये। अनुज सहित प्रभु बंदन कीन्हा। आसिरबाद पिता तब दीन्हा।'*

पं० रा० व० श०—*'सुभ सीला'*—शुभके शील, शुभसे परिपूर्ण। अर्थात् जैसा मङ्गल, जैसी रामजीकी कृपा, इनको प्राप्त है ऐसी किसीको कहाँ? वाल्मीकिजी लिखते हैं कि प्रधान-प्रधान वानर नवसहस्र उत्तमोत्तम हाथियोंपर सवार हैं, सब मनुष्यरूप धारण किये हैं और सब सब आभूषण पहने हुए हैं। यथा—**'नवनागसहस्राणि ययुरास्थाय वानराः। मानुषं विग्रहं कृत्वा सर्वाभरणभूषिताः॥'** (वाल्मी० यु० १२८। ३२) (च० सं० सर्ग १३१)।

मा० शं०—मनुष्य-रूप धारण किया, क्योंकि इसी रूपसे पूर्व भी साकेतमें थे। रणलीलाके लिये वानर बने थे, अब वह कार्य हो गया। अब सदा इसी रूपसे रहेंगे। पूर्व जो कहा था कि *'प्रभु तरुतर कपि डार पर ते किय आपु समान।'* उसका यहाँ उत्तर (साफल्य) है। प्रभु मनुज हैं उन्होंने उनको भी मनुज कर दिया।

टिप्पणी—२ *'भरत सनेह सील ब्रत नेमा..........।'* इति। (क) श्रीभरतजीका स्नेह सब पुरवासियोंसे अधिक है, इसीसे इनका स्नेह सबसे पहले वर्णन करते हैं। श्रीभरतजीमें अनन्त गुण हैं, यथा—*'निरवधि गुन निरुपम पुरुष भरतु भरत सम जानि।'* (२। २८८) पर वानरोंने जो गुण प्रत्यक्ष देखे वही वर्णन कर रहे हैं। स्नेह, शील, व्रत और नेम प्रत्यक्ष देख रहे हैं—व्रत और नियम करनेसे शरीर सूख गया है। (ख) भरताचरण बड़ा मङ्गलदायक है, यथा—*'परम पुनीत भरत आचरनू। मधुर मंजु मुद मंगल करनू'* (अ०), इत्यादि, यह समझकर आदरसे और अति प्रेमसे वर्णन करते हैं। [शील चेष्टासे जाना, क्योंकि मिलन आगे होगा। (पं० रा० श०) *'सादर सब बरनहिं अति प्रेमा'* से सूचित किया कि शील-स्नेह आदिको समझ-समझकर उन्हें सुख प्राप्त हो रहा है। इसीसे वे *'सादर अति प्रेम'* से प्रशंसा करते हैं; यह श्रीभरतजीके प्रेमादिके समझनेका फल है। यथा—*'भरत चरित कीरति करतूती। धरम सील गुन बिमल बिभूती॥ समुझत*

सुनत सुखद सब काहू। सुचि सुरसरि रुचि निदर सुधाहू।' (२। २८८)] ३—'*देखि नगरबासिन्ह कै रीती*.........' इति। (क) श्रीरामजी प्रथम ही पुरवासियोंको '*अति प्रिय*' कह चुके हैं—'*अति प्रिय मोहि इहाँ के बासी*'। इस वाक्यसे श्रीरामजीका पुरवासियोंमें अत्यन्त प्रेम कहा गया। और अब '*देखि नगरबासिन्ह*' से पुरवासियोंकी श्रीरामजीमें प्रीति कहते हैं। (ख)—'*सकल सराहहिं प्रभुपद प्रीती*' कहनेका भाव कि प्रभुपदमें अति प्रेम होनेसे ये प्रभुको अति प्रिय हैं।—[सराहना यह कि हमारा स्नेह इनके आगे तुच्छ है, स्नेह हो तो ऐसा हो। दोहावलीमें कहा है कि सुग्रीव-विभीषणको भरतादिका प्रेम देख ग्लानि होती थी। यथा—'*सधन चोर मग मुदित मन धनी गही ज्यौं फेंट। त्यौं सुग्रीव बिभीषनहिं भई भरत की भेंट॥* (२००) *राम सराहे भरत उठि मिले राम सम जानि। तदपि बिभीषन कीसपति तुलसी गरत गलानि॥*' (२०८) भरतजीके प्रेमका तो कोई पता भी नहीं पा सकता, ब्रह्मादिकको भी वह अगम है। श्रीजनकजीने कहा है कि '*निरवधि गुन निरुपम पुरुष भरत भरत सम जानि*', अतः वानर सोचते हैं कि इनके प्रेमकी हम क्या कहें, पुरवासियोंहीका प्रेम बड़ा अनुपम है। (ग) वानरोंने जब सबका प्रेम देख लिया तब प्रशंसा की, इसीसे सबके मिलापके पश्चात् वानरोंका प्रशंसा करना लिखा। (पंजाबीजी लिखते हैं कि पुरवासियोंकी सराहना इससे करते हैं कि अनेक व्यवहारोंमें पड़नेसे श्रद्धा और प्रेम घट जाता है।)

पुनि रघुपति सब सखा बोलाए। मुनि पद लागहु* सकल सिखाए॥ ५॥
गुर बसिष्ठ कुलपूज्य हमारे। इन्ह की कृपा दनुज रन मारे॥ ६॥
ए सब सखा सुनहु मुनि मेरे। भए समर सागर कहँ बेरे॥ ७॥
मम हित लागि जन्म इन्ह हारे। भरतहु ते मोहि अधिक पिआरे॥ ८॥
सुनि प्रभु बचन मगन सब भए। निमिष निमिष उपजत सुख नए॥ ९॥

अर्थ—फिर श्रीरघुनाथजीने सब सखाओंको बुलाया और सबको सिखाया कि सब लोग मुनिके चरण लगो अर्थात् चरण छूकर वा सिर चरणपर रखकर प्रणाम करो॥ ५॥ ये हमारे गुरु श्रीवसिष्ठजी हैं जो हमारे कुलपूज्य हैं, इन्हींकी कृपासे राक्षस रणमें मारे गये॥ ६॥ वानरोंसे यह कहकर तब वसिष्ठजीसे इनका परिचय देने लगे। हे मुनि! सुनिये। ये सब मेरे सखा हैं। ये संग्रामरूपी समुद्रमें (हमको) बेड़ारूप (सहायक) हुए॥ ७॥ इन्होंने मेरे हितके लिये अपने जन्म हार दिये (इसीसे) ये मुझे भरतसे भी अधिक प्यारे हैं॥ ८॥ प्रभुके वचन सुनकर सब (प्रेममें) मग्न हो गये, पल-पल उनको नये सुख उत्पन्न हो रहे हैं॥ ९॥

टिप्पणी—१ (क) '*पुनि रघुपति सब सखा बोलाए*.........' इति। यद्यपि हनुमदादि सब दास हैं तथापि श्रीरामजी अपने स्वभावसे उनको सखा ही कहते, मानते हैं। वानर लोग दूर-दूर देशोंसे आये हैं, वे मुनिको नहीं पहचानते, इसीसे श्रीरामजीने मुनिको पहिचनवाया कि ये हमारे गुरु हैं, कुलपूज्य हैं, इनको साष्टाङ्ग दण्डवत् करो। [पं० रा० व० श०—वानर नहीं जानते कि (यहाँ) किसीको एवं किसको प्रणाम करना चाहिये। जो बात भक्त नहीं जानते वह प्रभु उनको बता देते हैं। श्रुतिदेवको भक्तमालमें इसी तरह बताना कहा है कि सन्तोंको प्रणाम करो।] (ख)—'*गुर बसिष्ठ कुलपूज्य*........' से जनाया कि हमारे कुलकी रक्षा इन्हींसे होती है, यथा—'*भानुबंस भये भूप घनेरे*.........' अ० २५५ (५—८), इन्हींकी कृपासे राक्षस युद्धमें मारे गये। पुनः, गुरु हैं और कुलपूज्य हैं अर्थात् आचार्य हैं, यह कहकर जनाया कि लोक और परलोक दोनोंके रक्षक हैं।—[कुलपूज्यसे जनाया कि ये कुलके प्रारम्भसे ही कुलगुरु हैं। इक्ष्वाकुमहाराजके समयसे बराबर यही गुरु रहते आये हैं। जो रघुवंशियोंके सब दुःख दूर होते आये वह सब इन्हींके आशीर्वादसे तथा जो-जो मनोरथ सिद्ध हुए वे इन्हींकी पूजा और प्रसन्नतासे हुए। यथा—'*दलि दुख सजइ सकल कल्याना। अस असीस राउरि जगु जाना॥*' (२। २५५। ७), '*सब पायउँ रज पावनि पूजें*'॥ २। २। ६। (श्रीदशरथवाक्य);

* 'लागन कुसल'—(का०)। चरण लगना सिखाया, जिसमें सबकी कुशल है।

'तुम्ह सुरतरु रघुबंस के देत अभिमत माँगे। मेरे बिसेषि गति रावरी तुलसी प्रसाद जाके सकल अमंगल भागे॥' (गी० १। १२) (श्रीकौसल्यावाक्य)। इस प्रकार सखाओंको गुरुका गौरव और बड़प्पन बताया।]

२ (क) *'ए सब सखा·········'* इति। [पहले श्रीरामजीने सखाओंसे मुनिके चरणोंमें प्रणाम करनेको कहा, क्योंकि मुनिवेष तो स्पष्ट था। इसीसे *'मुनि पद लागहु'* कहा था। फिर मुनिका परिचय दिया कि ये हमारे कुलपूज्य हैं, इन्हींकी कृपासे राक्षसोंका वध हुआ है। जब वानर आदि प्रणाम करने लगे, तो प्रणाम करनेकी रीति है कि अपने यशस्वी पिता आदिका नाम लेकर और उनसे अपना सम्बन्ध बताकर प्रणाम करें। यह काम उनकी ओरसे श्रीरामजीने स्वयं किया। एक ही शब्द *'सखा'* से समस्त वानर और राक्षसोंका परिचय हो गया। उन सबकी ओर संकेत करके कहा कि *'ए सब सखा मुनि मेरे।'* इससे अधिक उत्तम परिचय क्या हो सकता था! 'ए' अंगुल्यानिर्देश है। शिष्य श्रीरामके सखा होनेसे जितना प्रेम मुनि वसिष्ठका उन सबोंपर होगा, उतना उनके पिताका नाम सुनकर कदापि न हो सकता। अतः सरकारने अपनेसे उनका प्यारा बराबरीका सम्बन्ध बताया]—(ख) प्रथम श्रीरामजीने मुनिको पहिचनवाया और अब वानरोंका परिचय मुनिको देते हैं। ऐसा करनेमें तात्पर्य यह है कि जिसमें वानर मुनिको भक्तिसे प्रणाम करें और मुनि कृपादृष्टि करके आशीर्वाद दें (ग) *'भए समर सागर कहँ बेरे'*, यहाँ 'बेड़ा' कहकर सूचित किया कि जहाँ जहाजसे भी पार हो जाना दुस्तर था वहाँ हमें इन्होंने छोटी नदीके समान पार कर दिया। बेड़ा छोटी नदीके पार जाता है, समुद्रके पार नहीं जा सकता। समर सागरको इन्होंने छोटी नदीके समान कर दिया, हमको कुछ भी परिश्रम न पड़ा।—(पुनः, बेड़ा कईके समूहसे बनता है तथा कई जहाजोंके समूहको भी बेड़ा कहते हैं। वानर-समूह हैं, प्रत्येक वानर एक-एक तख्ता, लट्ठा या जहाज है; अतः बेड़ा कहा। वानर बहुत अतः 'बेरे' बहुवचन कहा)।

पं० रा० व० श०—*'भए समर सागर कहँ बेरे'* इत्यादि वचन कर्तव्यतासूचक हैं, नहीं तो सच पूछिये तो श्रीलक्ष्मणजीके कहनेपर कि आप मित्रकी सहायता करें, उन्होंने कहा कि 'भला जिसने सप्तताल वृक्षोंको, पर्वत और पृथ्वीको एक बाणसे बेध डाला, जिसके धनुषके टङ्कारसे पर्वतसहित पृथ्वी काँप उठती है, उसको सहायककी आवश्यकता है? कदापि नहीं। वे तो स्वयं अपने तेजसे रावणका वध करेंगे, मैं तो केवल साथ रहूँगा। यथा—'**सीतां प्राप्स्यति धर्मात्मा वधिष्यति च रावणम्। सहायमात्रेण मया राघवः स्वेन तेजसा॥ सहायकृत्यं किं तस्य येन सप्त महाद्रुमाः। गिरिश्च वसुधा चैव बाणेनैकेन दारिताः॥ धनुर्विस्फारमाणस्य यस्य शब्देन लक्ष्मण। सशैला कम्पिता भूमिः सहायैः किं नु तस्य वै॥**' (वाल्मी० ४। ३६। ७—९)

भा० ९। ११। २० '**नेदं यशो रघुपतेः सुरयाच्ञयात्तलीलातनोरधिकसाम्यविमुक्तधाम्नः। रक्षोवधो जलधिबन्धनमस्त्रपूगैः किं तस्य शत्रुहनने कपयः सहायाः॥**' में शुकदेवजीने भी ऐसा ही कहा है कि समुद्रमें सेतु बाँध लेना और वानरदलसे निशिचरोंको मारना यह कोई बड़ाई नहीं है, सिंह सियारको मारे तो क्या बड़ाई है? वस्तुतः तो उनके समान भी कोई नहीं है। भला इनने वानरोंकी सहायतासे रावणको मारा? कदापि नहीं। यह रघुनाथजीका गुण दिखा रहा है कि वे किंचित् उपकारको भी बहुत माननेवाले हैं। यही विलक्षण गुण स्मरण कर वानर मग्न हो गये। प्रभुके समीपवर्त्तियोंको पल-पल नवीन सुख उनके साथ बर्ताव और प्रेमके कारण होता है।

नोट—हनु० १४। ६२ में श्रीरामजीने श्रीसीताजीसे सुग्रीवकी सहायताके विषयमें जो कहा है वह सब भाव यहाँ *'भए समर सागर कहँ बेरे'* में आ जाता है। वहाँ प्रभु कहते हैं कि—'हे प्रिय! जानकी! वनमें तो निवास, प्रियजनोंका वियोग बड़ा रोग, एक धनुषमात्र ही रक्षक और मांसाशी राक्षसोंमें धुरीण रावण प्रबल शत्रु, उसपर भी शत्रुका समुद्रपार निवास,—तो फिर यहाँ क्या प्रतीकार हो सकता था? यदि सुग्रीव हमारे मित्र न होते तो मुझ राघवकी इतनी ही कथामात्र रह जाती। अर्थात् रघुकुलमें एक राजा राम हुए थे, उन्हें वनवास हुआ, रावणने उनकी स्त्री हर ली, बस इतनी ही कथा रह जाती। यथा—'**निवासः कान्तारे प्रियजनवियोगाधिरधिको धनुर्मात्रत्राणं रिपुरपि धुरीणः पलभुजाम्। अकूपारं पारे वसति च स कात्र प्रतिकृतिर्न मित्रं सुग्रीवो यदि तदियती राघवकथा॥**'

टिप्पणी—३ *'मम हित लागि………'* इति। भाव कि इसमें इनका कोई स्वार्थ या हित न था, हमारे ही हितार्थ इन्होंने मरना अङ्गीकार किया और राक्षसोंसे युद्ध किया। (ख)—*'भरतहु ते'* कहनेका भाव कि श्रीभरतजी श्रीरामजीके प्रियत्वकी अवधि हैं, श्रीरामजीको इनसे बढ़कर कोई प्रिय नहीं है। यथा—*'तुलसी न तुम्ह सों राम प्रीतमु कहत हौं सौंहें किए।'* (२। २०१), *'सुनहु भरत रघुबर मन माहीं। पेमपात्र तुम्ह सम कोउ नाहीं॥'………'तुम्ह पर अस सनेह रघुबर कें। सुख जीवन जग जस जड़ नर कें॥'* (२। २०८), *'तुम्ह सम रामहि कोउ प्रिय नाहीं॥'* (२। २०५) सो इनसे भी ये अधिक प्रिय हैं।—[पां० भरतजीका ही नाम लिया, क्योंकि ये श्रीलक्ष्मण और शत्रुघ्नजीसे बड़े हैं। दूसरे जैसे यहाँ भरतजीने राज्यकी रक्षा की वैसे ही इन सखाओंने शरीरकी रक्षा की।]

पं०—भरतजीसे भी विशेष प्रिय कहनेके भाव—(क)—उन सबोंमें अत्यन्त प्रेम दरसाया। अथवा, (ख)—प्रेममें तुल्य हैं पर भरत एक हैं और ये बहुत हैं, अतः अधिक कहा। अथवा, (ग)—भरतजीने मनुष्य-शरीर और परमोत्तम वंश पाकर भक्ति की और इन्होंने अधम वानरशरीरसे मेरी भक्ति की, अतः अधिक प्यारे हैं।—[अधिक प्रियत्वका कारण प्रभुके वचनमें ही स्पष्ट है]।

वि० टी०—'इस कथनमें बहुधा उस कथनप्रणालीका अनुकरण समझ पड़ता है जिसके अनुसार लोग किसीकी प्रशंसा करनेके लिये उसे कुछ बढ़ाकर कहते हैं, सो यहाँपर यूथपोंकी प्रशंसा विशेषरूपसे दर्शायी; क्योंकि इन्होंने अपने प्राणपणसे समरमें श्रीरघुनाथजीकी रक्षा की'।—(इसपर कोई-कोई कहते हैं कि श्रीरघुनाथजीके इस विषयमें स्वयं ये वाक्य हैं कि—*'मृषा न कहउँ मोर यह बाना'*)।

पं० वि० त्रिपाठीजी—अपने हृदयङ्ग भावको दूसरेके हृदयङ्गम करनेमें ही भाषाकी उपयोगिता है। अतः जिन शब्दोंसे यह ठीक हृदयङ्गम हो सके वे झूठ नहीं हैं, सत्य हैं। कुम्भकर्णका जितना बड़ा डील-डौल था, उसका ध्यान दूसरेके मनमें बिना 'भूधराकार शरीर' कहे आ नहीं सकता, अतः भूधराकार कहना सत्य है, मिथ्या नहीं है। यहाँ वक्ताका तात्पर्य शब्दार्थमें नहीं है, उसके डील-डौलकी बड़ाईमें है। मोटे मनुष्यको लोग हाथी-सा कहा करते हैं, इसमें जो व्यर्थ शुष्क तर्कके बलसे शंका खड़ी करते हैं, उन्हें स्वादुपराङ्मुख मानना ही पड़ेगा। 'मैं अमुकको लड़केसे अधिक प्यार करता हूँ', 'वे तो मेरे माई-बाप हैं' ऐसा कहनेवालोंका शब्दार्थमें तात्पर्य नहीं होता, अधिक प्रीति तथा कृतज्ञतामें तात्पर्य होता है। दिन-रात व्यवहारमें ऐसा प्रयोग होता है तो काव्यमें प्रयोग न होनेका कोई कारण नहीं है। इसी भाँति *'तैं मम प्रिय लछिमन ते दूना'*, *'भरतहु ते मोहि अधिक पियारे'* आदि प्रयोग हैं, हनुमान्‌जीको लक्ष्मणसे प्यारा सिद्ध कर देना अथवा विभीषण-सुग्रीवको भरतजीसे अधिक प्यारा सिद्ध कर देनेमें पण्डिताई अवश्य है, पर वास्तविकता नहीं है।

पं० रा० व० श०—*'मम हित………अधिक पियारे'* में श्रीमद्भागवतके **'ये दारागारपुत्राप्तान् प्राणान्वित्तमिमं परम्। हित्वा मां शरणं याताः कथं तांस्त्यक्तुमुत्सहे॥'** (भा० ९। ४। ६५) का भाव है। अर्थात् जिन्होंने अपना घर छोड़ा, कुटुम्ब, धन और धाम सब छोड़ा और हमारी शरण आये वे चाहे जो कुछ करें, हम उनको कैसे त्याग सकते हैं। पुनः, यथा—*'नाते सब हाते करि राखत राम सनेह सगाई।'*

गौड़जी—*'भरतहु ते………'* इति। यहाँ भरतसे तुलना करनेका कारण यह है कि लक्ष्मणजी अभीतक तो वनमें साथ रहे हैं, पर वसिष्ठजीके निकट भरतजी बराबर रहे हैं और प्रस्तुत प्रसङ्गमें भरतजीकी ही तुलना और चर्चा सर्वोपरि है। वनमें हनुमान्‌जीके प्रति कहते हुए *'तैं मम प्रिय लछिमन ते दूना'* कहा। भगवान्‌को लक्ष्मण और भरत आत्मीयताके कारण अत्यन्त प्यारे हैं, इसीलिये प्यारके यही पैमाने हैं। भरतजी और लक्ष्मणजी परम भागवत हैं, यह बात तो निस्सन्देह है; परन्तु भगवान्‌को *'परम अकिंचन प्रिय हरि केरे'* अकिञ्चन भक्त अधिक प्यारे हैं। पशुयोनिमें होकर इन्होंने भगवान् न समझकर भी प्रभुको आत्मसमर्पण कर दिया, यह बहुत भारी बात है, इसीलिये ये परम भागवतोंसे भी अधिक प्यारे हैं। भरत और लक्ष्मण तो ईश्वरकोटिमें हैं। सम्प्रति नाम-रूपका ही भेद है, नित्यविभूतिमें तो अभेद ही है। इसलिये जब अपने

अकिञ्चन भक्तोंपर अपना प्रेम जनाते हैं तो परम सत्यताके साथ यह कहना पड़ता है कि मेरे अपने-आपसे भी यह अधिक प्यारे हैं, क्योंकि ये जीव हैं और अलग हैं। वरना *'दरियाकी हुबाबसे है यह सदा, तुम और नहीं हम और नहीं। हमको न समझ अपनेसे जुदा, तुम और नहीं हम और नहीं।'* यद्यपि जीव यही उत्तर देता है—**'सत्यपि भेदापगमे नाथ तवाहं न मामकीनस्त्वम्। सामुद्रो हि तरङ्गः क्वचन समुद्रो न तारङ्गः॥'** (षट्पदी)

टिप्पणी—४ (क) *'सुनि प्रभु बचन'* अर्थात् जो ऊपर ८ चरणोंमें कहे वे सब वचन। (ख) *'निमिष निमिष सुख'* नवीन उत्पन्न होनेका भाव यह कि जब श्रीरघुनाथजीने वानरोंको बुलाकर अपने पुत्रके समान मुनिको प्रणाम करना सिखाया तब वानरोंको सुख हुआ।—(१) वसिष्ठजीका नाम और कुलपूज्य कहकर पहिचान पाया तब सुख हुआ।—(२) वानरोंका उपकार वर्णन किया तब सुख हुआ।—(३) और जब भरतजीसे भी अधिक प्रिय कहा तब सुख हुआ।— (४) यही नये-नये सुख हैं जो पल-पलपर उत्पन्न हो रहे हैं।

वै०—जैसे-जैसे प्रभुके मुखसे वचन निकलते जाते थे। वैसे-वैसे नये-नये सुख उत्पन्न होते जाते थे और जब श्रीभरतजीसे भी अधिक कहा तब प्रेमानन्द ऐसा उमड़ा कि उसीमें मग्न हो गये कि प्रभुकी कृपाकी हद है, इससे अधिक क्या कहा जा सकता है?

दो०—कौसल्या के चरनन्हि पुनि तिन्ह नाएउ माथ।
आसिष दीन्हे* हरषि तुम्ह प्रिय मम जिमि रघुनाथ॥
सुमन बृष्टि नभ संकुल भवन चले सुखकंद।
चढ़ी अटारिन्ह देखहिं नगर नारि नर† बृंद॥८॥

अर्थ—फिर उन्होंने श्रीकौसल्याजीके चरणोंमें मस्तक नवाया। इन्होंने प्रसन्न होकर आशीर्वाद दिया कि तुम मुझे रघुनाथजीके समान प्रिय हो। आनन्दकन्द (आनन्दवर्षा करनेवाले मेघ एवं सुखराशि और सुखमूल) श्रीरामचन्द्रजी महलको चले, आकाश फूलोंकी झड़ीसे भर (छा) गया, नगरके स्त्री-पुरुषोंके झुण्ड-के-झुण्ड अटारियोंपर चढ़े दर्शन कर रहे हैं‡॥ ८॥

टिप्पणी—१ *'कौसल्या के चरनन्हि.........'* इति। गुरु श्रीवसिष्ठजीके चरणोंमें प्रणाम कर चुके। अब दूसरी गुरु (ज्येष्ठ बड़ी) कौसल्या माता हैं; अतः अब इनको प्रणाम किया।—[प्रभुने गुरुको पहचनवाया पर माताको नहीं। कारण कि ऐसा करनेसे उनका अपनी मातामें अधिक मोह समझा जाता। पर सखा इन्हें जान गये और प्रणाम किया। इससे उनकी बुद्धिकी चतुरता दिखायी। (रा० शं० श०) श्रीहनुमान्जी तो शक्तिके समयसे पहिचानते ही थे, गुरुको प्रणाम करना सिखाया गया। इसीसे सब गुरुजनोंको प्रणाम करना चाहिये, यह जान गये हैं]। (ख) *'प्रिय जिमि रघुनाथ'।* श्रीरघुनाथजी वानरोंको अपना सखा कहते हैं, सखा अपने समान होता है; इसीसे श्रीकौसल्याजी उन्हें रामजीके समान प्रिय कहती हैं। जैसे श्रीरामजीसे मिलनेसे हर्ष हुआ वैसे ही सखाओंको देखकर हर्ष हुआ, यह सूचित करनेके लिये *'आसिष दीन्हे हरषि'* पद दिया। माताने सखाओंको रामसमान प्रिय कहा, इसका स्वरूप (उनके हर्षसे) सबको प्रत्यक्ष देख पड़ा। (*'दीन्हे'* बहुवचन है। इससे जनाया कि बहुत आशीर्वाद दिये और यह भी कहा कि *'तुम्ह मम प्रिय.......'*।)

शङ्का—वानरसखाओंने गुरु वसिष्ठको और श्रीकौसल्याजीको प्रणाम किया परंतु श्रीभरत-शत्रुघ्न आदिको उनका प्रणाम नहीं पाया जाता, यह क्यों? समाधान—एक तो वे रामसखा हैं, तब छोटे भाइयोंको प्रणाम

---

* दीन्ही। † बरबृंद.......(का०)।

‡ आधुनिक किसी-किसी टीकाकारने भी 'बर-बृंद' पाठ दिया है और किसीने अर्थ किया है कि स्त्रियाँ अटारियोंपर चढ़ीं और पुरुष पृथ्वीपरसे देखते हैं। 'बरबृंद' पाठ हो तो 'बर' का भाव यह लेना होगा कि इनके भाग्यको शची शारदादिक ललचाती हैं, यथा.........'तिन्ह जुबतिन्हके भाग बरनि काते कहि आवे। सची सारदा रमा देखिकै मन ललचावे॥' (ध्यानमंजरी)

कैसे करते? दूसरे, श्रीरामजीने गुरुको प्रणाम किया था और इनको भी प्रणाम करनेको कहा, इससे वे समझ गये कि जिनको प्रभुने प्रणाम किया है उन्हें प्रणाम करना चाहिये, अतएव उन्हीं-उन्हींको सखाओंने भी प्रणाम किया। न श्रीरामजीने और किसीको प्रणाम किया न इन्होंने।

टिप्पणी—२ ***'सुमनबृष्टि………'*** इति। ☞ (क) भरतमिलाप यहाँ समाप्त हुआ। अब श्रीरामजी भवनको चले, इसीसे देवताओंने पुष्पवृष्टि की। (ख) ***'भवन चले'*** कहकर जनाया कि जैसे प्रथम सबसे भेंट करनेके लिये खड़े हुए और भेंट करके आगे चले थे—***'एहि बिधि सबहि सुखी करि रामा। आगे चले………'***, वैसे ही सब माताओंसे भेंट करनेके लिये खड़े हुए और उनसे भेंट करके आगे चले। (ग) ***'सुखकंद'*** कहा क्योंकि जैसे प्रथम सबको सुख देकर चले वैसे ही सब माताओंको सुखी करके चले हैं।

३ ***'चढ़ी अटारिन्ह………'*** इति। पूर्व स्त्रियोंका वर्णन कर आये हैं, यथा—***'बहुतक चढ़ीं अटारिन्ह निरखहिं गगन बिमान।'*** (३) अब यहाँ स्त्री और पुरुष दोनोंका अटारियोंपर चढ़े होना कहते हैं। इस कथनसे यह जनाते हैं कि अब भारी भीड़ है, नीचे खड़े होनेकी जगह नहीं है।—[गली, सड़कें सब मनुष्योंसे इतनी भरी हैं; यथा—'**नहि रथ्याः सुशक्यन्ते गन्तुं बहुजनाकुलाः।**' (वाल्मी० अ०)

कंचन कलस बिचित्र सँवारे। सबहि धरे सजि निज निज द्वारे॥ १॥
बंदनवार पताका केतू। सबन्हि बनाए मंगल हेतू॥ २॥
बीथीं सकल सुगंध सिंचाई। गजमनि रचि बहु चौक पुराई॥ ३॥
नाना भाँति सुमंगल साजे। हरषि नगर निसान बहु बाजे॥ ४॥

अर्थ—सोनेके कलश विलक्षण रीतिसे चित्रों, मणियों इत्यादिसे सँवारकर और सजाकर सब लोगोंने अपने-अपने दरवाजेपर तथा दरवाजोंको भी सजाकर रखे॥ १॥ मङ्गलके लिये सबने (दरवाजोंके ऊपर) बन्दनवार, पताकाएँ और ध्वजाएँ सजाकर लगायीं॥ २॥ समस्त गलियोंको अरगजा आदि सुगन्धित जलसे सिंचवाया। गजमुक्तासे रचकर बहुत-सी चौकें पूरीं (वा पुरवायी गयीं)॥ ३॥ हर्षित होकर अनेक प्रकारके सुन्दर मङ्गल नगरमें सजाये गये। प्रसन्नतासे नगरमें बहुत-से नगाड़े, डंके बजने लगे॥ ४॥

टिप्पणी—१ ***'कंचन कलस—'*** इति। (क) पहले लोगोंको दर्शनकी आतुरता थी। जब दर्शन कर चुके तब मङ्गल रचना करने लगे। (ख) श्रीरामजीके आगमनका समाचार पाकर स्त्री-पुरुष दोनोंका उठ 'धावना' पूर्व लिख आये—***'नर अरु नारि हरषि सब धाए।'*** (७। ३। ४) इनमेंसे स्त्रियोंका समाचार प्रथम ही लिख चुके कि ***'दधि दूर्बा रोचन फल फूला। नव तुलसीदल मंगल मूला। भरि भरि हेमथार भामिनी। गावत चलीं सिंधुरगामिनी।'*** (७। ३। ५-६) अब पुरुषोंका समाचार लिखते हैं कि ***'कंचन कलस।………'*** (ग) ***'बिचित्र सँवारे'*** कहकर जनाया कि सोनेके कलशोंको अनेक रंगों, अनेक चित्रोंसे चित्रित किया है। वा, उनमें अनेक रंगोंकी मणियाँ लगी हैं। उनको सजाया है अर्थात् उनमें जल भरकर, आम्रपल्लव रखकर, दीपक जलाकर द्वारपर रखा। (घ) ***'निज निज द्वारे'*** से सूचित किया कि नगरमें मङ्गल-रचना बहुत शीघ्र तैयार हुई। जितनी देर एक द्वारमें मङ्गल-रचना करनेमें समय लगा उतनेहीमें समस्त अयोध्याभरमें मङ्गल-रचना हो गयी। [***'सँवारे सबहि………'*** इति। (क) चतुरचूड़ामणि इन्हें देखकर प्रसन्न होंगे, इस विचारसे सँवारे। (ख)—***'सबहि'*** पद देकर नगरकी विभूति दिखायी कि छोटे-बड़े सबके यहाँ इतना धन है कि सोनेके कलश मणियोंसे रच-रचकर चौक पूरकर द्वारपर रखे। आजकल मट्टीके घड़ोंपर गोबरसे चित्रकारी करते हैं और मणियोंकी जगह आटेसे चौकें पूरते हैं; क्योंकि धनहीन हैं। (पं० रा० व० श०)]

२ (क) ***'बंदनवार पताका केतू………'*** इति। कलशका वर्णन करके अब कलशके ऊपरका वर्णन करते हैं। द्वार-द्वारपर कलश हैं, कलशोंके ऊपर द्वार-द्वारमें बन्दनवार लगे हैं—(कलश नीचे देहरीके पास और बंदनवार उसीके ऊपरकी चौखटपर), बन्दनवारके ऊपर पताका और केतु हैं। (ख) ***'बीथीं सकल सुगंध सिंचाई'।*** द्वारके आगे गली है, अतः द्वारके नीचे-ऊपरका वर्णन कर अब गलियोंका वर्णन

करते हैं। साथ ही यह भी सूचित करते हैं कि अपने-अपने द्वारके सामनेकी गली लोगोंने प्रेमवश स्वयं अरगजा और गुलाबजलसे सींची हैं। अथवा, गली, बाजार और सड़कें सरकारी हैं, सरकारी तरफसे सींची गयी हों।—['सुगन्ध अर्थात् चन्दन और अगरके जलसे, अरगजासे, अतरादिसे सींची गयीं।—***'गली सकल अरगजा सिंचाई।'*** (१। ३४४। ५) देखिये। पुनः, यथा—'**चन्दनागुरुतोयार्द्ररथ्या चत्वरमार्गवत्**' (भा० ४। २१ पृथुके स्वागतमें)। (ग) ***'गजमनि रचि बहु चौक पुराई'*** इति। चौक पूरनेका ठिकाना नहीं लिखते, कारण कि एक जगह पूरी जायँ तो ठिकाना लिखें, अनेक जगह स्थान-स्थान, ठौर-ठौरपर पूरी गयी हैं, जैसे कि कलशोंके पास, आँगनोंमें, गलियोंमें, बाजारोंमें इत्यादि। यथा—***'सींचि सुगंध रचैं चौकें गृह आँगन गली बजार।'*** (गी० १। २) (घ) ***'नाना भाँति सुमंगल ......'*** इति। कुछ सुमङ्गल कहकर अब कहते हैं कि अनेक प्रकारके और सुन्दर मङ्गल सजाये हैं, हम कहाँतक वर्णन कर गिनावें। मङ्गलसाज कहकर नगाड़ोंका बजना कहते हैं, इस तरह सूचित करते हैं कि नगाड़ा बजाना भी मङ्गल है, यथा—'**भेरीमृदंगमृदुमर्दलम् (?) शंखवीणावेदध्वनिर्मङ्गलगीतघोषाः**'।

☞ यहाँतक पुरुषोंका कृत्य कहकर आगे स्त्रियोंका कृत्य कहते हैं।

जहँ तहँ नारि निछावरि करहीं। देहिं असीस हरष उर भरहीं॥ ५॥
कंचन थार आरती नाना। जुबती सजे करहिं सुभ गाना॥ ६॥
करहिं आरती आरतिहर के*। रघुकुलकमल-बिपिन दिनकर के॥ ७॥

अर्थ—जहाँ-तहाँ स्त्रियाँ निछावरें कर रही हैं, आशीर्वाद देती हैं, (वा निछावर पानेवाले आशीर्वाद देते हैं तब) हृदयमें हर्ष भरती हैं॥ ५॥ अनेक सौभाग्यवती युवा स्त्रियाँ सोनेके थालोंमें अनेक आरतियाँ सजे हुए मङ्गल गीत गा रही हैं॥ ६॥ आर्ति-(दुःख, क्लेश-) के हरनेवाले, रघुकुलरूपी कमलवनके सूर्य श्रीरघुनाथजीकी आरती करती हैं†॥ ७॥

टिप्पणी—१ (क) ***'जहँ-तहँ'*** का भाव कि श्रीरामजीके सिरसे उतारकर न्यौछावर करनेका अवकाश नहीं है, इससे जो जहाँ हैं वहीं निछावर करती हैं। (ख) निछावर करती हैं, आरती उतारती हैं, हृदयमें हर्षित होती हैं और आशीर्वाद देती हैं यह कहकर जनाया कि तन, मन और वचनसे रामजीकी भक्ति करती हैं। अथवा, ***'देहिं असीस'*** से निछावर पानेवालोंका आशीर्वाद कहा। वे आशीर्वाद देते हैं, जिसे सुनकर इनके मनमें हर्ष होता है। ***'देहिं असीस'***—अपने-अपने रस, भाव और प्रीतिके अनुकूल आशीर्वाद देती हैं। वाल्मीकिजी अ० १६। ३९, ४० में लिखते हैं कि वृद्धा कहती हैं कि '**नूनं नन्दति ते माता कौसल्या मातृनन्दन**' '**चिरं जीव तु ते माता कौशल्या**' अर्थात् हे मातृनन्दन! आपकी माता कौशल्या निश्चय परम आनन्दको प्राप्त हैं अर्थात् भाग्यवती हैं, माता कौशल्या बहुत काल जियें। और पतिसुखवाली कहती हैं कि—'**सर्वसीमन्तिनीभ्यश्च सीतां सीमन्तिनी वरा। अमन्यत हि ता नार्यो रामस्य महिषीं प्रियाम्**॥' अर्थात् सब सौभाग्यवतियोंसे श्रीजानकीजी श्रेष्ठ हैं, क्योंकि ये श्रीरामजीकी प्रिया महिषी हैं। (पं० रा० व० श०) (ग) [***'हरष उर भरहीं।'*** भाव कि जो हृदय पूर्व विरह-शोकादिसे भरा था उसमें अब हर्ष भर रहा है, वहाँसे शोक निकल गया।]

'कंचन थार आरती नाना।.........' इति। सोनेके थालोंमें आरती सजे मङ्गल गान करती हैं, क्योंकि आरती पारी-पारा कर रही हैं; अभी इनकी पारी (बारी) नहीं आयी है। आगे आरती करना लिखते हैं—['नाना' थार, आरती, युवती सबके साथ है]।

---

* भा० दा० की पोथीमें 'के' पाठ है जो 'कै' की एक मात्रापर हरताल देकर बनाया गया है। का०, १८१७, १८१८ में 'कौ' पाठ है। १८४२, बं० पा०, रा० गु० द्वि०, ग्रियर्सनवालीमें भी 'के' पाठ है।

† १—रघुकुलपर कमलवनका रूपण और रामचन्द्रजीपर सूर्यका आरोप 'सम अभेद रूपक' है। परिकरांकुर और शब्दप्रमाणकी संसृष्टि है.........(वीर)। २.........मिलान कीजिये.........'चक्रुर्नीराजनन्तस्य नाना बलिपुरस्सरम्' (आ० रा० सारकाण्डे १२। ९८)। एवं 'नार्यो नीराजयामासू रत्नदीपै रघूत्तमम्'। ८९।

पं० रामकुमारजी—'*करहिं आरती आरतिहर के।*.......' इति। वनमें जाकर दुष्टोंको मारा इससे जगत्‌के आर्त्तिहर हैं, फिर लौट आकर अपने कुलको सुख दिया इससे रघुकुलकमलरूपी वनके सूर्य हैं। '*दिनकर*' पदसे सूचित किया कि देवताभावसे प्रसन्न होते हैं, यथा—'*सुर साधु चाहत भाव*.........' (बा० ३२६ छन्द); **'अपां निधिं वारिभिरर्चयन्ति दीपेन सूर्यं प्रतिबोधयन्ति। ताभ्यां तयोः किं परिपूरणाय भक्त्यैव तुष्यन्ति महानुभावाः॥'**

पं० रा० व० श०—आरती करती हैं कि नजर न लगे, अलाय-बलाय सब टल जाय। आरतिहरकी आरती करती हैं क्योंकि वे तो रघुकुल-कमल वनके सूर्य हैं, सबको सुखी करनेवाले हैं। ये राजाका सम्बन्ध मानती हैं, न कि ब्रह्मका और उसी भावसे आरती करती हैं।

गौड़जी—आरतिहरकी आरती करनेका भाव कि जैसे '*जाकी सहज स्वास श्रुति चारी। सो प्रभु पढ़ यह कौतुक भारी॥*' वैसे ही जो सबकी आर्त्तिका हरनेवाला है उसीकी पीड़ा हरने, अलाय-बलाय दूर करनेको दीपवर्त्तिकाएँ बारी जाती हैं और जो रघुवंशरूपी कमलको विकसित और आनन्दित करनेवाला है, उसीकी मङ्गल कामनाके लिये और उसीको सुखी करनेके लिये दीपवर्त्तिकाएँ बार रही हैं। बारनेवालियाँ प्रायः यह नहीं जानती हैं कि ये अखिल जगत्‌के आरतिहर हैं और जो कौसल्याकी तरह जानें भी उसका भी तो अपनी ओरसे कर्तव्य यही है। किसी भावसे मूर्त्तिकी षोडशोपचार पूजाके साथ-साथ उपासक दीपक आदि बारता है, जो विश्वम्भर है उसको भोग लगाता है।

रा० प्र०—आरतीका स्वरूप विनयके ४७, ४८ पदमें है—

'हरति सब आरती आरती राम की। दहन दुख दोष निमूलनी काम की॥१॥
सुभग सौरभ धूप दीप बरमालिका। उड़त अघ बिहंग सुनि ताल करतालिका॥२॥
भक्त हृद भवन अज्ञान तमहारनी। बिमल बिज्ञानमय तेज बिस्तारिनी॥३॥
मोह-मद-कोह-कलिकंज हिम जामिनी। मुकुति की दूतिका देहदुति दामिनी॥४॥
प्रनत जन कुमुद बन इंदुकर जालिका। तुलसि अभिमान महिषेस बहु कालिका॥५॥

पुर सोभा संपति कल्याना। निगम सेष सारदा बखाना॥८॥
तेउ यह चरित देखि ठगि रहहीं। उमा तासु गुन नर किमि कहहीं॥९॥

अर्थ—शिवजी कहते हैं कि हे उमा! पुरकी शोभा, सम्पत्ति और कल्याण वेद, शेष और शारदा बखान करते हैं॥ ८॥ सो वे (ऐसे योग्य वक्ता) भी यह चरित देखकर ठगे-से रह जाते हैं तब उसका गुण मनुष्य क्योंकर कह सकते हैं? अर्थात् नहीं कह सकते॥ ९॥

पं० रा० व० श०—'*पुर संपति सोभा कल्याना।*' इति। कलशादिसे सम्पत्ति, वन्दनवारादिसे शोभा और सबकी वृत्ति रघुनाथजीमें लगी है, सबके हृदयमें रूप, गुण और चरित समाया है; इससे कल्याणका क्या कहना?

टिप्पणी—१ '*निगम सेष सारदा बखाना*' इति। अर्थात् पुरशोभा वेद, पुरसम्पत्ति शेष और पुरकल्याण शारदा बखान करती हैं।—(यथा संख्यालङ्कारसे) और, पुरका बखान तो साक्षात् श्रीरामजीने अपने मुखारविन्दसे किया है। यथा—'*हरषे सब कपि सुनि प्रभु बानी। धन्य अवध जो राम बखानी॥*' ['*निगम सारदा सेष बखाना*' इति। भाव कि कल्प-कल्पमें प्रभुका अवतार होता है, तब-तब निगम-शेष आदि वर्णन करते हैं। परन्तु फिर जब वर्तमान कल्पका चरित्र देखते हैं तब ठगे-से रह जाते हैं कि हमने क्या वर्णन किया था, यह तो पैसाभर भी नहीं है। (रा० शं० श०) '*ठगि रहहीं*' का भाव कि ये सदा वर्णन करते आये। जब-जब काम पड़ा, पर आज ठगे-से रह गये, देखते ही रह गये, कह नहीं सकते, जैसे किसीने उनपर जादू कर दिया हो। (पं० रा० व० श०)]

२—'*तेउ यह चरित*.........' इति। (क) '*ठगि रहहीं*' का भाव कि जितना बखान करते जाते हैं उससे कहीं अधिक देखते हैं। यह चरित अर्थात् जो पुरवासी रचना करते हैं उससे शोभा अधिक बढ़

जाती है, सम्पत्ति अधिक देख पड़ती है, कल्याण अधिक देख पड़ता है, तब देखकर ठगे-से रह जाते हैं। ['ठग रहना' मुहावरा है। जैसे कोई किसी कामको जाय और उसका धन ठग लिया जाय, तो जैसे वह भौचक्का-सा रह जाता है वैसी ही दशा इनकी हो रही है। ठग रहना=आश्चर्यसे स्तब्धचकित वा दंग रह जाना। भौचक्का हो जाना।] (ख)—*'नर किमि कहहीं'* अर्थात् जब स्वर्गकी वक्ता शारदा, पातालके वक्ता शेष (और निगम निज वाणी ब्रह्मकी है सो भी) नहीं कह सकते तब मृत्युलोकके वक्ता मनुष्य क्योंकर कहेंगे?

वि० त्रि०—नगरकी शोभा, सम्पत्ति और कल्याणका बखान निगम, शेष और शारदाने कर दिया, परन्तु जब सरकारकी सवारी नगरमें चली ऊपरसे आकाशमें फूलोंकी वर्षा हो रही है, अटारियोंपर चढ़ी हुई स्त्रियाँ दोनों ओर आरती कर रही हैं, निछावर कर रही हैं, मङ्गल-गान कर रही हैं; बाजे बज रहे हैं, उस समय नगरमें जो समा बँधा उसे देखकर निगम, शेष, शारदा भी भौचक रह गयी, कुछ कहते न बना, उसके वर्णनकी आशा मनुष्यसे कैसे की जाय। भाव यह कि वह शोभा समाज-सुख-सर्वथा वर्णनातीत था।

दो०—नारि कुमुदिनी अवध सर रघुपति बिरह दिनेस।
अस्त भए बिगसत भईं निरखि राम राकेस॥
होहिं सगुन सुभ बिबिध बिधि बाजहिं गगन* निसान।
पुरनरनारि सनाथ करि भवन चले भगवान॥ ९॥

शब्दार्थ—**सनाथ**=कृतार्थ—*'जौं कदाचि मोहि मारहिं तौ पुनि होउँ सनाथ।'* (कि० ७)

अर्थ—अवधरूपी तालाबकी स्त्रियाँरूपिणी मुकुदिनी रघुनाथजीके विरहरूपी सूर्यके अस्त होनेपर श्रीरामरूपी पूर्णचन्द्रको देखकर खिल गयीं। अनेक प्रकारके मङ्गल सगुन हो रहे हैं, आकाशमें अनेक प्रकारसे नगाड़े बज रहे हैं। नगरके स्त्री-पुरुषोंको कृतार्थ करके भगवान् रामजी महलको चले॥ ९॥

टिप्पणी—१ (क) ☞ पुरुषोंका आनन्द समुद्रके रूपकसे कहा, यथा—*'राका ससि रघुपति पुर सिंधु देखि हरषान……।'* अब स्त्रियोंका आनन्द कुमुदिनीके रूपकसे कहते हैं। पर, स्त्री-पुरुष दोनोंको सदृश आनन्द हुआ है] इसीसे दोनों रूपकोंमें रामजीको राकेश कहा है—वहाँ *'राका ससि रघुपति'* और यहाँ *'राम राकेस'*।—(यहाँ सम-अभेद-रूपक है।) (ख) *'निरखि राम राकेस'* का भाव कि जैसे माताएँ आरती कर-करके श्रीरामजीके अङ्गोंको देखती थीं, यथा—*'कनकथार आरती उतारहिं। बारबार प्रभुगात निहारहिं॥'*, वैसे ही अवधवासिनी स्त्रियाँ भी आरती करके अब श्रीरामजीको देख रही हैं। अतः *'निरखि'* कहा।

२—*'होहिं सगुन सुभ……'* इति। श्रीरामजी अब (अपने) महलको चले, इसीसे यहाँ मङ्गल शकुनोंका वर्णन करते हैं। (ख) *'बाजहिं गगन निसान'* इति। नगरमें पुरवासियोंका नगाड़े बजाना ऊपर कह चुके, यथा—*'हरषि नगर निसान बहु बाजे'*, इससे अब देवताओंका निशान बजाना कहते हैं।—[रा० शं०—पूर्व राजतिलक-समय देवता दुःखी थे, उन्हें अवध-बधावा न भाता था। अब वे सुखी हैं; अतः स्वयं नगाड़े बजा रहे हैं। पहली बार केवल श्रीसीता-रामजीको शकुन हुए थे, पुरवासियोंको नहीं और अब इनको भी शकुन हो रहे हैं। इसीसे पूर्व इनके मनोरथ सफल न हुए थे, अब हुए।]

नोट—१ *'सनाथ करि'* से सूचित किया कि वनवासके समयसे अबतक वे अनाथ रहे, यथा—*'चलत राम लखि अवध अनाथा। बिकल लोग सब लागे साथा॥'* (२। ८३। ३) अब प्रभुके आनेसे सब *'सनाथ'* हुए। २—*'राका ससि रघुपति……'* उपक्रम है और *'निरखि राम राकेस'* उपसंहार।

मा० म०—प्रभुने सब घरोंमें जा-जाकर सबको सन्तुष्ट किया।

---

* नाक—(मा० म०, का०), गगन—(भा० दा०, १८१७, १८१८, १८४३, रा० गु०)।

टिप्पणी—४ (क) भवनको चलना दो बार लिखते हैं। एक तो पूर्व *'सुमन बृष्टि नभ संकुल भवन चले सुखकंद।'* (८) दूसरे यहाँ *'भवन चले भगवान।'* (ख) जब माताओंको सुख देकर चले तब *'सुखकंद'* और जब पुरनरनारिको सनाथ कर चले तब 'भगवान्' कहा। कारण कि सबको एक ही कालमें मिलना, 'भगवान्' का काम है। (ग) देवताओंका पुष्पवृष्टि करना दोनों बार कहा, क्योंकि देवता समय-समयपर सेवा करते रहते हैं।

प्रभु जानी कैकई लजानी। प्रथम तासु गृह गए भवानी॥ १॥
ताहि प्रबोधि बहुत सुख दीन्हा। पुनि निज भवन गवन हरि कीन्हा॥ २॥
कृपासिंधु जब* मंदिर गए। पुरनरनारि सुखी सब भए॥ ३॥

अर्थ—हे भवानी! प्रभु जान गये कि श्रीकैकेयीजी लज्जित हैं, (इसलिये) प्रथम उन्हींके घर गये॥ १॥ उन्हें खूब समझाकर बहुत सुख दिया। फिर सबका दुःख हरनेवाले भगवान् अपने महलको चले॥ २॥ जब दयासागर श्रीरामजी महलमें गये तब सब स्त्री-पुरुष सुखी हुए॥ ३॥

टिप्पणी—१ *'प्रभु जानी कैकई लजानी।''''''''*, यह श्रीरामजीके स्वभावकी बड़ाई है, यथा—*'ता कुमातु को मन जोगवत जिमि निज तन मरम कुघाउ'* (विनय० पद १००)। माताके लज्जित होनेसे श्रीरामजीको बड़ा दुःख हुआ इसीसे प्रथम कैकेयीजीके भवनमें गये कि उनकी ग्लानि और सङ्कोचको दूर कर दें। कैसे जाना? यह पूर्व देख चुके हैं, यथा—*'रामहि मिलत कैकई हृदय बहुत सकुचानि।'* (६) इसीसे जान गये कि वे लज्जित हैं। [लज्जा इससे है कि वे अपनेको वनवासादि उत्पातोंका कारण मानती हैं। मन्थराकी बातोंमें आकर श्रीरामजीको कुटिल समझने लगी थीं। जिनके साथ अन्याय किया वे ऐसे सरल, सुशील और विमाताके मनको 'जुगवने' वाले निकले। (रा० प्र०)]

नोट—१ (क) *'प्रथम तासु गृह गए'* इति। कैकेयीजीसे सब माताओंसे मिलते समय मिल चुके हैं। अब कैकेयी-भवनमें मिलने गये। इससे यह पाया गया कि वे अपने महलमें पहुँच चुकी हैं। एक कारण तो उनके यहाँ प्रथम जानेका स्पष्ट कहा गया। दूसरे, कैकेयीभवनमें प्रथम जाना धर्मधुरन्धर प्रभुको सूक्ष्मधर्मनिर्वाहमें कुशल सूचित करता है। जहाँसे वनवास हुआ उस स्थानतक पहुँचकर, यह दिखाकर कि वरदानकी पूर्ति हो चुकी, तब निजभवनमें जाना योग्य ही था। तीसरे, श्रीभरतजीने कैकेयीभवनमें जाना छोड़ दिया है। इससे श्रीरामजी निजजननी कौसल्याका भवन छोड़कर प्रथम कैकेयीके यहाँ गये। चौथे, वनवासके पूर्व कैकेयीमें श्रीरामजीका प्रेम अपनी मातासे भी अधिक रहा है जैसा गीतावली और कवितावलीसे स्पष्ट है *'माना राम अधिक जननी ते''''''''* *'कहैं मोहि मैया कहौं मैं न मैया भरतकी बलैया लैहौं भैया तेरी मैया कैकेई है।'* (क० अ०) यही बात दिखलाकर प्रबोध करनेको वहाँ गये कि देखो हमारा प्रेम पूर्वसे किसी तरह घटा नहीं किन्तु बढ़ा ही हुआ है।

(ख)—*'ताहि प्रबोधि बहुत सुख दीन्हा'* इति। प्रबोधि अर्थात् प्रकर्ष करके बोध कराया, इसीसे कैकेयीजीको बहुत सुख मिला। पुनः ये बहुत सङ्कोचमें पड़ी थीं—*'हृदय बहुत सकुचानि',* इससे इनको श्रीरामजीने बहुत सुख दिया जिसमें सङ्कोच मिट जाय।

'ताहि प्रबोधि बहुत सुख दीन्हा'

वि० टी०—कैकेयीको कैसे प्रबोध किया? यह निम्न श्लोकमें बड़ी बुद्धिमानीसे लिखा गया है जिसका अर्थ है कि—हे माता! आपने मुझको केवल अरण्यमें अपने शरीरमात्रकी ही रक्षा करनेका काम सौंपा और अपने छोटे-से लड़के भरतके सिरपर समस्त पृथ्वीकी रक्षाका भार रख दिया। इसलिये यहाँपर हम दोनोंमेंसे किसको सुभीता रहा इसका विचार यदि किया जाय तो यह स्पष्ट है कि आपका पक्षपात मेरे ही ऊपर बड़ा भारी है।

* रा० गु० द्वि०, भा० दा०, १८४२ और वं० पा० का पाठ 'तब' है। मा० म०, १८१७, १८१८ और का० में 'जब' है। वीरकविने 'निज' पाठ दिया है।

'वनभुवि तनुमात्रत्राणमाज्ञापितं मे सकलभुवनभारः स्थापितो वत्समूर्ध्नि।
तदिह सुकरतायामावयोस्तर्कितायां मयि पतति गरीयानम्ब ते पक्षपातः॥'

पं० रा० व० श०—'प्रबोध' किया। अर्थात् कहा कि 'आपने सबका बहुत श्रेय किया और हमारे लिये बहुत क्लेश उठाया। आपके चरणोंकी कृपासे ही आज हमारी त्रैलोक्यमें प्रशंसा हो रही है।' पुनः, गोदमें बैठकर वात्सल्यसुख दिया। जब शान्ति हुई तब चले।

रा० प्र०—समझाया कि तुम्हारी ही कृपासे आज सब जगत् सुखी हुआ, मेरी भी इच्छा पूर्ण हुई और प्रपञ्च जो हुआ वह तो सब देवताओंका रचा हुआ था, आप उसे अपने ऊपर व्यर्थ लेती हैं। उसका क्षोभ दूर करनेको प्रथम उनके घर गये क्योंकि उन्होंने स्वयं कलंकिनी होकर जगत्का उपकार किया।

पं०—काल, कर्म और दैवगति समझाकर प्रबोध किया, यथा—*'काल करम बिधि सिर धरि खोरी'*, *'अंब ईस आधीन जग.........'* (अ० २४४)

मा० म०—बहुत समझाना यह कि—(क) तुम विषाद न करो, यह तो तुमने मेरे मनका किया, मैं चाहता ही था कि वन जाकर भूभार उतारूँ। (ख) मैंने ही प्रेरणा करके तुमसे वर मँगवाया था। (ग) मुझे तुम अपना पुत्र समझो। (घ) भावी प्रबल है इसमें तुम्हारा दोष किंचित् नहीं, यथा—*'अंब ईस आधीन जग काहु न देइअ दोषु'*—(अ० २४४), *'दोसु देहिं जननी जड़ तेई।'* जो तुम्हें दोष दें वे मूर्ख हैं।

पां०—'प्रबोध' से जनाया कि अपना पररूप दरसाया जिससे उसे विश्वास और आनन्द हुआ कि मैंने जो किया वह इनके अनुकूल ही किया।

वै०—होनहार था, आपका दोष क्या? मैं तो प्रसन्न हूँ तब दूसरेके कुछ कहनेसे क्या? पिताजी लङ्कामें आये थे, उनसे भी हमने अपराध क्षमा करा लिया है—इत्यादि *'बहु बिधि'* है। [वाल्मीकिजी लिखते हैं कि रावणवधके पश्चात् जब श्रीदशरथजी महाराज देवताओंके साथ श्रीरामजीके दर्शनोंको आये तब उन्होंने श्रीरामजीसे कहा था कि तुमको वनवास देनेके लिये कैकेयीने जो-जो बातें मुझसे कही थीं वे अभीतक मेरे मनमें ज्यों-की-त्यों बनी हुई हैं। यथा—'**कैकेय्या यानि चोक्तानि वाक्यानि वदतां वर। तव प्रव्राजनार्थानि स्थितानि हृदये मम॥**' (११९। १५) इसीसे श्रीरामजीने हाथ जोड़कर उनसे प्रार्थना की कि '**कुरु प्रसादं धर्मज्ञ कैकेय्या भरतस्य च॥ सपुत्रां त्वां त्यजामीति यदुक्ता कैकयी त्वया। स शापः कैकयीं घोरः सपुत्रा न स्पृशेत्प्रभो॥**' (२५-२६) हे धर्मज्ञ! आप कैकेयी और भरतके ऊपर प्रसन्न होइये। प्रभो! आपने जो कैकेयीसे कहा था कि 'मैं पुत्रसहित तेरा त्याग करता हूँ' यह आपका शाप उनके लिये यथार्थ न हो।—तब श्रीदशरथजी महाराजने कहा कि जैसा तुम कहते हो ऐसा ही होगा।—'**स तथेति**'।—(मा० सं०)] पूर्व कैकेयीको सब माताओंसे अधिक चाहते थे वही बात दृढ़ करनेके लिये अब भी प्रथम उनके महलमें गये कि देखो हमारा प्रेम किंचित् भी कम नहीं हुआ—(अ० ३१९ देखो)।

टिप्पणी—२ *'निज भवन गवन हरि कीन्हा।'* यहाँ कैकेयीके भवनसे चलते समय *'हरि'* नाम दिया, क्योंकि कैकेयी माताका क्लेश हरण किया है और '**क्लेशं हरतीति हरिः**'।—[*'निज भवन'* कनकभवन है जहाँसे निकलकर सुमन्त्रजीके साथ कैकेयीजीके महलमें श्रीदशरथजी महाराजके पास गये थे*]

३ (क) *'कृपासिंधु जब मंदिर गए'* इति। सबपर अत्यन्त कृपा करके अपने मन्दिरको गये, सबको सुख देकर अपने सुखके स्थानको गये; अतः *'कृपासिंधु'* कहा।—[अथवा, कैकेयीजीका मान रखनेमें कृपालुता देखी, अतः *'कृपासिंधु'* कहा—(पं०)] (ख) *'पुरनरनारि सुखी सब भए'* इति। भाव कि जब श्रीरामजी कैकेयीके स्थानपर गये तब सब लोग शङ्कित हुए कि न जाने अब क्या करे, इसीके भेजनेसे श्रीरामजी १४ वर्षके लिये वनको चले गये थे अब फिर उसीके स्थानपर गये हैं। जब वहाँसे निकलकर अपने महलमें गये तब निःशङ्क होकर सुखी हुए। अथवा, श्रीरामजीका स्वभाव देखकर सुखी हुए कि

* रा० प्र० कार 'निज भवन' से कोसल्याभवन अर्थ लेते हैं।

रामजी धन्य हैं जिस माताने राज्यरस भङ्ग करके वनवास दिया उसीका मन प्रसन्न करनेके लिये प्रथम उसीके महलमें गये।

पां०—पहले एक बार कह चुके हैं कि *'एहि बिधि सबहि सुखी करि रामा'* और अब यहाँ फिर वही कहते हैं—*'पुरनरनारि सुखी सब भए।'* कारण कि कैकेयीके जिस घरमें जानेसे वनवास हुआ था वहीं फिर जाते देख उनके चित्तमें सङ्कल्प-विकल्प उठने लगे, पूर्वका सुख चला गया था, अब वहाँसे कुशल लौटते देखा तब वह सुख फिर हुआ।

पं० रा० व० श०—१ प्रभुका स्वभाव है कि पहले अपने आश्रितोंको सुखीकर तब आप सुखी होते हैं, यथा—**'आश्रितान् सुखिनः कृत्वा पश्चात् स च सुखी भवेत्'** (भगवद्गुणदर्पण) अतः प्रथम कैकेयीके यहाँ गये। श्रीरामजी भवनसे वनको गये। १४ वर्षतक यह सूना पड़ा रहा। आज उस भवनको पुनः शोभित करने गये; अतः सब सुखी हुए। यह कहना कि कैकेयीके यहाँ जानेसे पुरवासी दुःखी हुए, यह लाञ्छन लगानेवाली बात है। चित्रकूटसे जबसे वे आयीं तबसे पुरवासियोंको यह निश्चय हो गया कि यह काल-कर्म-भवितव्यतावश उनसे हो गया था। किसीका मत है कि आगे स्वयं उसके पुत्र होनेका वर दे उसे सुखी किया।

गौड़जी—*'पुरनरनारि सुखी सब भये।'* पुरवासियोंके मनमें श्रीरघुनाथजीकी ओरसे बहुत सुबहा है। वे बड़े दावेके साथ तमसातटतक गये कि हम प्रजाके नाते श्रीरघुनाथजीको फेर ही लावेंगे परन्तु वहाँ *'खोज मारि रथ हाँकहु ताता। आन उपाय बनिहि नहिं बाता॥'* चकमा देकर निकल गये। पीछे पुरवासियोंको भरतजीका बड़ा सहारा मिल गया परन्तु वहाँ भी अन्तको निराश ही लौटना पड़ा। बहुतोंके नजदीक इसमें भरतजीहीकी गलती थी; जो हो जिस-जिस तरह १४ वर्ष बिताये। जब अपनी नगरीमें आ गये तब आशा हुई कि अब तो रहेंगे परंतु इसमें जरूर कोई भेद है कि अपने महल न जाकर फिर उसी कैकेयीके महलमें गये जहाँसे वनवास हुआ था। श्रीरघुनाथजीपर पुरवासियोंका यह बड़ा गहरा सुबहा था कि गहरी पितृभक्ति और कट्टर सत्यपालनके कारण प्रजाको अपने शासन-सुखसे वञ्चित करते आये हैं, ऐसा न हो कि आजका मिलन-सुख भी क्षणभङ्गुरही-सा हो। मिलजुल लेनेके बाद भी अदबके खयालसे पास-पास तो नहीं; मगर दूर-दूरसे प्रमुख पुरवासियोंकी भीड़-की-भीड़ बराबर यह देखती जाती है कि सरकारके क्या इरादे हैं? कहाँ जाते हैं? क्या करते हैं? सबके जीमें एक दगदगा-सा बैठा हुआ है कि ऐसा न हो कि पिताकी आज्ञाकी पख लगाकर राजगद्दी क़बूल ही न करें या भरतजीको सौंपकर कहीं और रहनेको चले जायँ। यह खयाल दिलमें था ही कि लोग देखते क्या हैं कि आप अपने महलके बजाय कैकेयीके महलमें जा रहे हैं। यह क्या मामला है! कैकेयीसे फिर कौन-सी सलाह होगी? क्या ऐसा तो नहीं है कि भरतको राज्य देनेका प्रस्ताव उसके सामने लाये हों और जब कि भरतराज्यके समय उनको हटानेके लिये दशरथके इस अनुनय-विनयको उसने स्वीकार नहीं किया था कि श्रीरघुनाथजीको अवधमें रहने दे और भरतजी राज्य करें तो आज वह भरतके राज्य करते रामजीका अवधमें रहना कब पसन्द करेगी! क्या यह सलाह तो नहीं है कि भरतजी अयोध्याजीमें राज्य करें और रामजी किसी और नगरमें? इत्यादि सङ्कल्प-विकल्प देखनेवालोंके मनमें उठना स्वाभाविक ही था। उन्हें क्या मालूम था कि श्रीरघुनाथजीकी मर्जी क्या है। साथ ही यह हिम्मत भी न थी कि पूछ लेते। गति-विधिसे ताड़ लेना ही एक अवलम्ब था। जब वे अपने खास महलमें गये जो अबतक सूना पड़ा था तब प्रजाको बड़ी खुशी हुई। उन्होंने सोचा कि वनके लिये रवाना होते हुए जो कैकेयीके घरसे निकले तो जङ्गलमें जाके ही दम लिया। धर्मपालनके लिये ऐसे निर्मोही हो गये कि पीछे फिरकर देखा ही नहीं। आज कैकेयीके घर पहले-पहल जाकर उन्होंने उसके वरदानकी अन्तिम पूर्णाहुति अथवा अपने उस १४ वर्षके महाव्रतका उपसंहार किया। इसके बाद जब वे अपने महलमें गये तो पुरवासियोंका जो जी धड़क रहा था कि कहीं कोई गड़बड़ न हो वह सन्देह मिट गया और एतमीनान हो गया कि अब अपने महलमें रहेंगे। इसी एतमीनानसे *'सुखी सब भये।'*

प० प० प्र०—मैं गौड़जीसे सहमत हूँ। दोनों चरणोंमें एक-एक मात्रा न्यून करके बताया कि पुरवासियोंको अनिर्वचनीय सुख हुआ जिसको वे *'उर अनुभवहिं न कहि सक सोऊ।'* सभी सत्त्वभावापन्न हो गये। वाणी रुक गयी, जय-जयकार भी न कर सके।

'जेहि बिधि राम नगर निज आए' एवं 'भरतमिलाप' प्रकरण समाप्त हुआ।

राज्याभिषेक-प्रकरण

गुरु बसिष्ट द्विज लिए बुलाई। आजु सुघरी सुदिन* समुदाई॥ ४॥
सब द्विज देहु हरषि अनुसासन। रामचंद्र बैठहिं सिंहासन†॥ ५॥

अर्थ—गुरु वसिष्ठजीने ब्राह्मणोंको बुला लिया। (जिस लिये बुलाया वह सबसे कहते हैं कि) आज सुन्दर घड़ी (मुहूर्त्त) है, सुन्दर दिन है और समुदाय (अर्थात् बहुत अच्छे सभी योग) हैं॥ ४॥ सब ब्राह्मण प्रसन्नतापूर्वक आज्ञा दो कि श्रीरामचन्द्रजी सिंहासनपर बैठें॥ ५॥

पं० रा० कु०—*'द्विज लिए बुलाई'* कहनेका भाव कि ब्राह्मण इनके साथ ही हैं इसीसे अपने समीप सबको बुला लिया।

पं० रा० च० मिश्र—भरतजीने भी यह भार गुरुपर धरा था—*'बनहि देब मुनि रामहि राजू'* अतः अपने ऊपर भार समझकर गुरुने स्वयं ही उतावली की।

गौड़जी—*'गुरु बसिष्ट द्विज लिए"""।'* यहाँ गुरु वसिष्ठ प्रजा, परिजन, मन्त्री आदिको बुलाकर कोई राजसभा नहीं करते यद्यपि भरतजीको राज्य देनेके लिये बड़ा तूमार बाँधा था और चित्रकूट जाकर तो इस तरहकी राजसभाकी कई-कई बैठकें हुईं। यहाँ वसिष्ठजी केवल ब्राह्मणोंसे पूछते हैं और तिलक करनेका प्रबन्ध करते हैं और किसीसे सलाह भी नहीं लेते। 'जहाँ वसिष्ठजीकी तरफसे यह मनमानी-घरजानी-सी दीखती है वहाँ जिन लोगोंसे सलाह न ली गयी उनको भी कोई एतराज मालूम नहीं होता', यह क्या बात है?—यह शङ्काका निवारण सहज ही हो जाता है जब हम चित्रकूटके समझौतेपर ध्यान देते हैं। अन्तिम सभामें भरतजीने जब आज्ञा माँगी है तो उन्हें यही आदेश हुआ है—*'बाँटी बिपति सबहि मोहि भाई। तुम्हहिं अवधि भरि अति कठिनाई॥'* वहाँ यह समझौता हो गया था कि पिताकी आज्ञाके पालनमें १४ वर्षतक भरतको प्रजापालन और रामजीको वनवास करना ही है। कैकेयीके दोनों वरोंकी शर्तें इतनेमें पूरी हो जाती हैं। कैकेयीने सदाके लिये भरतका राज्य नहीं माँगा था। इस तरह चित्रकूटमें यह तै पाया था कि अवधि पूरी होते ही वरकी शर्तोंकी कठिनाई दूर हो जायगी और श्रीरामचन्द्र अपना राज्य सँभाल लेंगे। जिस सभामें यह समझौता हुआ था उसमें श्रीअवधके राजमन्त्री, ब्राह्मण, पौर जानपद इत्यादिके सिवा राजा जनक और उनके दरबारी लोग भी मौजूद थे। यह निश्चय ऐसी सभामें हो ही चुका था कि अवधि बितानेपर श्रीरामचन्द्रजी तिलक कबूल करेंगे। इसलिये दुबारा राजसभाके बुलानेकी जरूरत न थी। रही बात यह कि वसिष्ठजीने ब्राह्मणोंसे आज्ञा क्यों माँगी? तो यह तो साधारण शिष्टाचारकी बात है। यद्यपि वसिष्ठजी कुलगुरु और आचार्य हैं, वे तो रामजीको ही आज्ञा दे सकते हैं तथापि ब्राह्मणत्वके नाते ब्राह्मण सबसे बड़े हैं, उनको आज्ञा दी नहीं जाती, उनसे आज्ञा माँगी जाती है। यह वसिष्ठजीकी शालीनता है कि वह न केवल कल्याणार्थ ब्राह्मणोंकी आज्ञा माँगते हैं प्रत्युत आज्ञाके व्याजसे उन्हें आमन्त्रित करते हैं कि आइये हम ब्राह्मण लोग मिलकर भगवान् श्रीरामचन्द्रको सिंहासनपर बिठावें और इस मङ्गलमय अवसरको हाथसे न जाने दें। अनुशासनका यही तात्पर्य है।

नोट—*'आजु सुघरी सुदिन"""।'* वनसे किस दिन, किस मास, किस वर्ष इत्यादिमें लौटे इसमें मतभेद है। कोई चैत्र शु० ५, कोई कार्तिक इत्यादिमें लौटना कहते हैं। अतः मानसकार सबका मत रखनेके

* सुभदाई—(पं०, का०)—शुभके देनेवाले। † सिंहासन—(का०)।

लिये वनगमनसे आजतक कहीं इसका निर्णय नहीं करते। कल्पभेदसे जो जिसको चाहे मान ले। अतः *'आजु'* इतना ही कहा। जिससे इतना ही निर्णय किया कि उसी दिन राज्याभिषेक हुआ। (मा० सं०) पुनः, *'आजु सुघरी.........'* का भाव कि समुदायका जिस मुहूर्तमें सम्मत हो वह मुहूर्त अवश्य सुखदायक होता है। (पं० रा० कु०) 'समुदायी' का भाव कि आज समुदाय-का-समुदाय सब घड़ी, दिन, नक्षत्र इत्यादि जैसे होने चाहिये वैसे ही उत्तम पड़े हैं (पं० रा० व० श०)।

टिप्पणी—१ *'सब द्विज देहु'* इति। (क) दशरथजी महाराज वसिष्ठजीकी आज्ञा लिया करते थे, और अब वसिष्ठजी रामजीको राज्य देते हैं, इसीसे आप सब ब्राह्मणोंकी आज्ञा लेते हैं [पं०—ब्राह्मणोंके सम्मानहेतु उनको बुलाया। एवं उत्तम लोगोंकी रीति है कि कार्यमें बहुतोंका सम्मत लेकर कार्य करते हैं। (विशेष अ० ५। ४ देखिये)]

पं० वि० त्रिपाठी—सरकार ब्रह्मण्यदेव हैं; किसी भी मङ्गल कार्यके करनेमें पहिले ब्राह्मणोंसे आज्ञा ले लेते हैं तब उसे करते हैं। धनुषभङ्गके समय *'राम मुनिन्ह सन आयसु माँगा'।* चित्रकूट-निवास वाल्मीकिजीकी आज्ञासे किया, दूसरे वनमें अत्रिजीकी आज्ञासे गये, पञ्चवटी-निवास अगस्त्यजीकी आज्ञासे किया। सब कुछ पहलेसे ही निर्णीत होनेपर भी सिंहासनारूढ़ भी ब्राह्मणोंकी आज्ञासे ही होंगे। अपनी स्वच्छन्द इच्छासे राज्य स्वीकृत नहीं कर रहे हैं, अतः इसके लिये स्वयं आज्ञा न माँगेंगे, इस बातको समझकर वसिष्ठजी ब्राह्मणोंसे कहते हैं कि आपलोग अनुशासन हर्षपूर्वक दें कि रामचन्द्र सिंहासनपर बैठें।

टिप्पणी—२ *'हरषि देहु'* कहनेका भाव कि जब चक्रवर्ती महाराजने वसिष्ठजीसे आज्ञा माँगी थी तब उन्होंने हर्षपूर्वक आज्ञा न दी थी वरन् यही कहा था कि *'सुदिन सुमंगल तबहि जब राम होहिं जुबराजु',* इसीसे कार्य न सिद्ध हुआ। अतएव सबसे हर्षपूर्वक अनुशासन माँगते हैं। यदि वे हर्षपूर्वक आज्ञा दें तो कार्य निर्विघ्न सिद्ध हो जाय। [*'हरषि'* का भाव कि—एक तो ब्राह्मणोंकी प्रसन्नता मङ्गलमूलक है—*'मंगलमूल बिप्र परितोषू',* दूसरे ऐसा सर्वगुणसम्पन्न राजा न कभी हुआ है, न है, न होगा। तीसरे, प्रभु ब्रह्मण्यदेव हैं; अतएव तुमको हर्षपूर्वक अनुशासन देना चाहिये। (रा० शं० श०)]

३—सुदिन सुनाकर पीछे आज्ञा माँगनेमें भाव यह है कि सुदिनके भी ऊपर ब्राह्मणोंकी आज्ञा है, सुदिन न भी हो और ब्राह्मणकी आज्ञा हो जाय तो कार्य करना चाहिये, कार्य सिद्ध होगा और यहाँ तो सुदिन भी है और ब्राह्मणाज्ञा भी, अर्थात् सुदिनपर सुदिन है।

मुनि बसिष्ट के बचन सुहाए। सुनत सकल बिप्रन्ह अति भाए॥ ६॥
कहहिं बचन मृदु बिप्र अनेका। जग अभिराम राम अभिषेका॥ ७॥
अब मुनिबर बिलंब नहिं कीजै। महाराज कहँ तिलक करीजै॥ ८॥

अर्थ—श्रीवसिष्ठ मुनिके सुहावने (सुन्दर) वचन सुनते ही सब विप्रोंको वे अतिप्रिय लगे॥ ६॥ वे सब अगणित ब्राह्मण कोमल वचन बोले कि श्रीरामजीका तिलक जगन्मात्रको आनन्द देनेवाला है॥ ७॥ हे मुनिश्रेष्ठ! अब देर न कीजिये, महाराज रामचन्द्रजीका तिलक कर दीजिये॥ ८॥

टिप्पणी—१ (क) *'बचन सुहाए।'* 'सुहाये' बहुवचन है, क्योंकि वसिष्ठजीके बहुत वचन हैं—प्रथम सुदिन सुनाया, दूसरे ब्राह्मणोंसे आज्ञा माँगी, तीसरे रामजीको सिंहासनपर बैठनेको कहा। वचन 'सुहाये' हैं, इसीसे *'अति भाए।'* [पुनः *'अति भाए',* क्योंकि वे सब तत्त्वके ज्ञाता हैं, जानते हैं कि सिंहासनासीन होनेपर ध्यान होता है। (पं० रा० व० श०)] *'अति भाए'* इसीसे आनन्द हृदयमें भर गया और वे उसी आनन्दमें भरे वचन बोले। आनन्दसे वचन बोले इसीसे मुखसे कोमल वचन निकले। (ख) वसिष्ठजीकी आज्ञा है कि हर्षपूर्वक आज्ञा दीजिये। विप्रोंके मनको ये वचन बहुत अच्छे लगे, यही हर्ष है। आगे आज्ञा देते हैं—*'अब मुनिबर.........।'*

२—(क)—*'जग अभिराम राम अभिषेका'* का भाव कि ये संसार भरके राजा होंगे जिससे जगत्‌भरको

आनन्द होगा। [पुनः भाव कि ग्रह, नक्षत्र, तिथि तो आप-से-आप आ प्राप्त होंगे, इनके विचारनेकी आवश्यकता नहीं, क्योंकि इनका अभिषेक ही जगत्‌का मङ्गलकारक है, मङ्गल सब स्वयं आ जायँगे (पं० रा० व० श०)] (ख)—*'अब मुनिबर बिलंब नहिं कीजै'*, यह कहकर वसिष्ठजीके बताये हुए सुदिन आदिको स्वीकार किया। तात्पर्य कि आपके कथनानुसार दिन बहुत सुन्दर है तो बस इसीमें श्रीरामजीका अभिषेक हो जाय, विचारकी आवश्यकता नहीं। [शुभ कार्यमें विलम्ब न करना चाहिये। यथा—**'अजरामरवत्प्राज्ञो विद्यामर्थं च साधयेत्। गृहीत इव केशेषु मृत्युना धर्ममाचरेत्।'** इति नीतिः। अर्थात् विद्या और धनका उपार्जन अजर-अमरके समान मानकर करे और धर्म करनेमें समझे कि मृत्युने हमारी चोटी पकड़ ली है, मारने ही चाहता है (पं० रा० व० श०)। विलम्बमें व्यङ्ग यह है कि चौदह वर्ष पीछे आज फिर कहीं पञ्चमी आयी है; प्रथम बार विलम्ब करनेसे ही विघ्न हुआ था। अतः अब तुरन्त कर दीजिये। (पां०)] पूर्व भी तिलक-समय गुरु और मन्त्रियोंके ऐसे ही वचन थे। यथा—*'बेगि बिलंबु न करिअ नृप साजिय सबुइ समाज।'* (अ० ४), *'जग मंगल भल काजु बिचारा। बेगिय नाथ न लाइय बारा॥'* (२।५।६) (ग) *'महाराज कहँ तिलक करीजै।'* 'महाराज' प्रथम ही कहनेका भाव कि राज्याभिषेक होनेपर महाराज पदवी होती है पर श्रीरामजी तो प्रथमहीसे महाराज हैं, जब कोई तिलक करे तब महाराज हों सो बात नहीं है।—['महाराज बड़े आदमियोंका सहज सम्बोधन है।'] ☞गोस्वामीजी ब्राह्मणोंके मन, वचन और कर्म तीनोंका हाल लिखते हैं। (१)—अभिषेक सुनकर मनमें प्रसन्न हुए, यथा—*'सुनत सकल बिप्रन्ह अति भाए।'* २—मृदु वचन बोले। (३) हाथसे तिलक करनेको कहा।

गोस्वामीजीके वर्णनसे तो जान पड़ता है कि कुल काम तिलकोत्सवतक उसी रातमें हो गया जिस सन्ध्याको भगवान् श्रीअयोध्याजीमें पधारे। वाल्मीकीयके अनुसार राज्यारोहणोत्सव प्रभुके अयोध्या पधारनेके तीसरे या दूसरे दिन हुआ है। कथाभेदका कारण कल्पभेद है।

दो०—तब मुनि कहेउ सुमंत्र सन सुनत चलेउ* हरषाइ।
रथ अनेक बहु बाजि गज तुरत सँवारे जाइ॥ १०(क)॥
जहँ तहँ धावन पठइ पुनि मंगल द्रब्य मगाइ।
हरष समेत बसिष्ट पद पुनि सिरु नाएउ आइ॥ १०(ख)॥

अर्थ—तब (विप्राज्ञा होनेपर) मुनि वसिष्ठजीने सुमन्त्रजीसे कहा और वे सुनते ही हर्षित होकर चले और तुरन्त जाकर अनेक रथ और बहुत-से हाथी-घोड़े तुरन्त सजाये फिर जहाँ-तहाँ दूतोंको भेजकर और मङ्गल-द्रव्य (माङ्गलिक पदार्थ) मँगाकर हर्षसहित वसिष्ठजीके चरणोंमें फिर आकर माथा नवाया। (कि राज्याभिषेककी सब आवश्यक सामग्री तैयार है, आज्ञानुसार सब कार्य कर आया हूँ)॥ १०॥

टिप्पणी—१ (क)*'तब मुनि कहेउ सुमंत्र सन'* इससे सूचित हुआ कि सुमन्तजी वहीं थे, उनको बुलाना न पड़ा। (ख)*'सुनत चलेउ हरषाइ'* कहकर सुमन्तजीका अत्यन्त जल्दी चलना सूचित किया। मुनियोंकी आज्ञा है कि *'बिलंब नहिं कीजै'*, इन वचनोंको आगे सर्वत्र चरितार्थ करते हैं जैसा कि आगे स्पष्ट है।—*'तुरत सँवारे जाइ।'* सुमन्तजीकी शीघ्रता गोस्वामीजी अपने अक्षरोंसे दिखाते हैं कि बहुत शीघ्र सब तैयारी कर दी। (ग) ☞वसिष्ठजीने सुमन्तजीसे किसी वस्तुका नाम नहीं लिया क्योंकि सुमन्तजी आप पण्डित हैं, जो वस्तु अभिषेकके लिये आवश्यक है† वह सब वे जानते हैं, दूसरे इससे यहाँ

* 'चलेउ सिरु नाइ'—(का०)। 'पुनि सिरु नाएउ' इसका समर्थक है।

† वै० १—'मङ्गलद्रव्य', यथा मङ्गलविधाने—'विप्राद्यं मणिचौकचारुकलशं दीपान्नसत्पल्लवं रम्भावन्दनवारकेतुचमरं दूर्वाङ्कुरारोपणम्। कन्यातोर्णवितानदर्पणध्वजाताम्बूलदध्यक्षतं क्षत्रं रोचनगानवाद्यव्यजनं पुष्पाज्यधूपाङ्गनाम्। चतुरंगसेनां चित्रामधेनुः पौराणिकाः मागधवंदिगायकाः। पताकयुक्तं तु फलादिमीनारववेदयुक्तं शुभमङ्गलाङ्गाः।' (१—३) इत्यादि।

न गिनाये कि प्रथम राज्याभिषेक होनेको था तब वे सुमन्त्रजीसे सब वस्तु गिना चुके हैं, यथा—'*हरषि मुनीस कहेउ मृदु बानी। आनहु सकल सुतीरथ पानी॥ औषध मूल फूल फल पाना। कहे नाम गनि मंगल नाना॥ चामर चरम बसन बहु भाँती। रोमपाट पट अगनित जाती॥ मनिगन मंगल बस्तु अनेका। जो जग जोग भूप अभिषेका॥ बेद बिदित कहि सकल बिधाना। कहेउ रचहु पुर बिबिध बिताना॥ सफल रसाल पूगफल केरा। रोपहु बीथिन्ह पुर चहु फेरा। रचहु मंजु मनि चौकें चारू। कहेउ बनावन बेगि बजारू॥ पूजहु गनपति कुलगुरु देवा। सब बिधि करहु भूमिसुर सेवा॥ ध्वज पताक तोरन कलस सजहु तुरग रथ नाग॥*' (अ० ६)

२ (क)—'*जहँ तहँ धावन पठइ पुनि*.......।' जो बहुत 'धावै' (दौड़कर जा सके) वह 'धावन' कहलाता है। यहाँ शीघ्रताका काम है इसीसे 'धावन' पद दिया। (ख) हर्षसहित वसिष्ठपदमें सिर नवानेका भाव कि इसी सुन्दर घड़ीमें सब मङ्गलद्रव्योंका एकत्र कर लेना कठिन था सो सब प्राप्त हो गयीं, यह सब आपके चरणोंकी कृपासे हुआ इतनी शीघ्र सब वस्तुएँ जुट गयीं, इसीसे हर्ष है। ☞सब द्रव्य हनुमान्‌जीने प्राप्त कर दिये, यथा—'*संकट समाज असमंजस में रामराज काज जुग पूगनि को करतल पल भो', मन को अगम तन सुगम किये कपीस काज महाराज के समाज साज साजे हैं*—(बाहुक)। पुनश्च यथा—'**हनुमत्प्रमुखाद्यैश्च चतुःसिन्धुजलं शुभम्। समानीय नृपैः सर्वैर्महावाद्यपुरःसरम्।**' (आ० रा० १। १२। १०२) '**प्रेषयामास सुग्रीवो जाम्बवन्तं मरुत्सुतम्। अङ्गदं च सुषेणं च ते गत्वा वायुवेगतः।**' (अ० रा० १५। ३५) '**जलपूर्णाश्छातकुम्भकलशांश्च समानयन्। आनीतं तीर्थसलिलं शत्रुघ्नो मन्त्रिभिः सह।**' (३६)

नोट—देश-देशान्तरोंके राजा पूर्व ही आ चुके, यथा—'**ब्राह्मणाश्च तथा पौरा राजानो ये समागताः**' (अ० रा० १४। ७०)। ये लोग भी स्वागतमें भरतजीके साथ थे। अथवा, हनुमान्‌जी इत्यादि उनको ले आये।

नोट—'*पुनि सिरु नाएउ*.......' अर्थात् वह सब कार्य हो गया, अब और जो आज्ञा हो वह करूँ। पुनि=तत्पश्चात्।=दूसरी बार।—यह अर्थ देकर यह शब्द जना देता है कि पूर्व भी आज्ञा पाकर चलते समय प्रणाम करके गये थे। दो बार न लिखकर यहाँ अन्तमें इस एक शब्दसे दोनों बारका प्रणाम सूचित कर दिया।

अवध पुरी अति रुचिर बनाई। देवन्ह सुमन बृष्टि झरि लाई॥ १॥
राम कहा सेवकन्ह बोलाई। प्रथम सखन्ह अन्हवावहु जाई॥ २॥
सुनत बचन जहँ तहँ जन धाए। सुग्रीवादि तुरत अन्हवाए॥ ३॥

अर्थ—अवधपुरी अत्यन्त सुन्दर सजायी गयी। देवताओंने फूलोंकी वर्षाकी झड़ी लगा दी॥ १॥ श्रीरामचन्द्रजीने सेवकोंको बुलाकर कहा कि पहले सखाओंको जाकर स्नान कराओ॥ २॥* वचन सुनते ही सेवक जहाँ-तहाँ दौड़ पड़े और (जाकर) तुरन्त सुग्रीवादि-(सखाओं-)को स्नान कराया॥ ३॥

टिप्पणी—१ (क) '*अवधपुरी अति रुचिर बनाई।*' भाव कि अवधपुरी स्वयं रुचिर है उससे विशेष रचना की जिससे वह '*अति रुचिर*' हो गयी।—[पं० रा० व० श०—'*अति रुचिर।*' अवध सदैव सुहावन है। यह रचना पुरवासियोंके प्रीतिकी रीतिका द्योतक है।—'*जद्यपि अवध सदैव सुहावनि। रामपुरी मंगलमय पावनि॥ तदपि प्रीति कै प्रीति सुहाई। मंगल रचना रची बनाई।*' (१। २९६। ५-६)] देवताओंने पुष्पवृष्टि की। तात्पर्य कि सब मङ्गलद्रव्य इकट्ठा हुए, पुरीकी रचना की गयी यह भी मङ्गल है, इसीसे देवताओंने भी समयपर फूलोंकी वृष्टि की, यह भी मङ्गल है, यथा—'*बरषहिं सुमन सुमंगल दाता*', '*गगन सुमन झरि अवसरु जानी।*' (१। ३२४। ७) इत्यादि। (ख)—'*बृष्टि झरि लाई*' का भाव कि रामराज्याभिषेक सुनकर जैसे सबको हर्ष हुआ वैसे ही देवताओंको भी हुआ इसीसे फूलोंकी झड़ी लगा दी। वा, अयोध्यापुरी

* पंजाबीजी अर्थ करते हैं कि 'सेवकोंको प्रथम बुलाकर समझाया कि प्रथम सखाओंको स्नान कराओ'। और कहते हैं कि प्रथम समझानेका भाव यह है कि सिंहासनपर बैठ जानेपर बोलनेमें सङ्कोच होगा। सेवकोंके सम्मान-हेतु एवं अपने गम्भीर स्वभावसे सेवकोंको समीप बुलाया अथवा कपीशादिका सम्मान समझानेके लिये पास बुलाया—(इतनी बड़ी साहिबीमें कैसे सावधान हैं!)।

ऐसी रुचिर बनी है कि देवता देखकर फूल बरसाने लगे। वा, मनुष्योंने पुरीकी रचना की और देवताओंने रचना करनेके स्थानमें फूल बरसाये। [पहले देवता विघ्न मनाते थे अब पुष्प बरसाकर मङ्गल मनाते हैं। इस समय तो इनकी कामना पूरी हो गयी है, आगेके लिये भी रक्षा हो इस विचारसे हर्ष प्रकट करते हैं। (रा० शं० श०)]

२ (क) *'राम कहा सेवकन्ह बुलाई।''''''''* अर्थात् जब सब तैयारी हो गयी और स्नानका समय आ गया तब श्रीरामजीने सेवकोंको बुलाया। सखाओंका स्नान कराना अभिषेकको बातोंसे पृथक् है, इसीसे सुमन्तजीने उनको स्नान करानेका इंतिजाम नहीं किया, जितनी बातें गुरुने कहीं उतनी सब कर दीं। इसीसे श्रीरामजीने स्वयं अपने सखाओंका खयाल किया, उनको अपनेसे पहले स्नान कराया। देखिये प्रभु कैसे सावधान हैं। कवितावलीमें जो कहा है *'बड़ी साहिबीमें नाथ बड़े सावधान हौ।'* (७। १२६) वह यहाँ चरितार्थ हो रहा है। [वि० त्रि०—जब वसिष्ठजीकी आज्ञासे अभिषेकके लिये सब सामग्री इकट्ठी होने लगी, तब सेवकलोग अभिषेकका समय सन्निकट जानकर मङ्गल-स्नानकी व्यवस्था करने लगे। सरकारने यह देखकर सेवकोंको बुलाया और कहा कि पहले तुमलोग जाकर मेरे सखाओंको मङ्गल-स्नान कराओ, तब मुझे स्नान कराना। इसीलिये गोस्वामीजी विनयमें कहते हैं कि *'जानत प्रीति रीति रघुराई।'*] (ख) *'सुनत बचन जहँ तहँ जन धाए''''''''।'* इति। जलादि सामग्री लेनेके लिये सब जहाँ-तहाँ दौड़े (जन—कहार, नापित, इत्यादि सेवक) (ग) सुग्रीव प्रथम सखा हैं इससे उनको आदिमें कहा। इसीसे प्रथम इनको तुरन्त स्नान कराया। (प्र० स्वामीजी लिखते हैं कि प्रथम सखा तो निषादराज हैं पर वे मान-बड़ाई नहीं चाहते। तीनों सखाओंमेंसे सुग्रीवको मान-बड़ाई अधिक प्रिय है और श्रीरामजी तो सदा सेवक-रुचिरक्षामें तत्पर रहते हैं, इसीसे उन्होंने सुग्रीवको प्रथम स्नान करवाया। दोहा १७ में इसी हेतुसे *'सुग्रीवहि प्रथमहि पहिराए।'* रावणवध-कार्यमें श्रीसुग्रीवजीकी सहायता सबसे श्रेष्ठ है, यह भी मानना ही पड़ेगा, उसमें निषादराजका भाग किंचित् भी नहीं है)। (घ) *'तुरत अन्हवाए'* कथनका भाव कि श्रीरामजीके सखा बहुत हैं, इनके स्नान करानेमें विलम्ब होना सम्भव है। लोगोंको सन्देह हो सकता है कि विलम्ब हुआ होगा। इसीसे कहते हैं कि तुरन्त स्नान करा दिया विलम्ब न हुआ। यह भी सूचित किया कि सखाओंसे सेवक अधिक हैं, एक-एक सखाके पास कई-कई सेवक खड़े हैं।

पुनि करुनानिधि भरत हँकारे। निजकर राम जटा निरुआरे॥ ४॥
अन्हवाए प्रभु तीनिउ भाई। भगतबछल कृपाल रघुराई॥ ५॥
भरत भाग्य प्रभु कोमलताई। सेष कोटिसत सकहिं न गाई॥ ६॥

अर्थ—फिर करुणासागर श्रीरामजीने श्रीभरतजीको बुलाया और अपने हाथोंसे उनकी जटाएँ खोलीं॥ ४॥ भक्तवत्सल कृपालु, रघुकुलके राजा प्रभुने तीनों भाइयोंको नहलाया॥ ५॥ भरतजीका भाग्य और प्रभुकी कोमलता अनन्त शेष भी नहीं वर्णन कर सकते॥ ६॥

टिप्पणी—१ (क) *'पुनि करुनानिधि भरत हँकारे'* इति। सखाओंको स्नान कराके तब भाइयोंको स्नान कराया, इस कर्मसे जनाया कि सखाओंको भाइयोंसे अधिक मानते हैं। यथा—*'अनुज राज संपति बैदेही। ''''''''सब मम प्रिय नहिं तुम्हहि समाना॥'* (१६। ६—८) (ख) सखाओंका आदर करके अब भाइयोंका आदर करते हैं कि अपने हाथ उनकी जटाएँ सुलझायीं। [ये जटाएँ मेरे लिये ही धारण की गयी हैं, अतः मैं ही इन्हें उतारूँगा। यह समझकर स्वयं उनको खोला। 'भरत-भाग्य' के अन्तर्गत यही सन्दर्भ है। (मा० म०) पं०—सखाओंको भाइयोंसे प्रथम स्नान कराया, इस तरह उनका मान अधिक हुआ। कारण कि—(क) वे केवल सेवक हैं और भरतादिमें बन्धुभाव भी है। (ख) वे पाहुन हैं अतः सब भाइयोंद्वारा भी वे पूज्य हैं। (ग) अधम शरीरमें उन्होंने भक्ति की। पर उस कमीकी पूर्ति स्वयं ही उनके जटा उतारनेसे कर दी। इस प्रकार सम्मान इनका भी कम नहीं कर सकते।] (ग) 'करुणानिधि' का भाव

कि भरतजीपर उनकी अति करुणा है। अपने हाथ उनकी जटाएँ उतारना, यह करुणाका स्वरूप है।

२—(क) तीनों भाइयोंको स्नान कराया, यह कहकर सूचित किया कि लक्ष्मणजीकी भी जटाएँ अपने ही हाथसे उतारीं। (ख) *'भगत बछल कृपाल रघुराई'* इति। भक्तवत्सल हैं उनका प्रिय करते हैं; कृपालु हैं उनपर कृपा करते हैं; रघुराई (रघुकुलके राजा) हैं उनका प्रतिपाल करते हैं—[जिनकी सेवा ब्रह्मादिको भी दुर्लभ है और जिनको ब्रह्मादिक जान भी न सकें वे अपने हाथ कैंकर्य कर्म करें, जैसे पिता पुत्रका करे, यह भरत-भाग्य है—(पं० रा० व० श०)।]

३—(क) *'भरत भाग्य प्रभु कोमलताई।'* भरत-भाग्य यह है कि प्रभु उनपर इतनी कृपा करते हैं और प्रभुकी कोमलता यह है कि सेवकोंकी सेवा करते हैं; हृदय इतना कोमल है। (ख) सौ करोड़ (अगणित) शेष भी नहीं गा सकते, यह कहकर जनाया कि भरतके भाग्य और श्रीरामजीकी कोमलताका अन्त नहीं। भरतजी श्रीरामजीके चरणोंमें अनुराग करते हैं यह उनका बड़ा भाग्य है और श्रीरामजी भरतजीपर बड़ा अनुराग करते हैं यह भरत-भाग्यका अन्त नहीं, यथा—*'जे गुर पद अंबुज अनुरागी। ते लोकहु बेदहु बड़भागी॥ राउर जापर अस अनुरागू। को कहि सकइ भरत कर भागू॥'* (अ० २५९)

मा० हं०—**'भेंट और मङ्गल स्नान'**—ये वर्णन अत्यन्त मनोवेधक और माननीय हुए हैं। इनमें गोसाईंजीने व्यवहारके पाठ बहुत ही मार्मिक रीतिसे भर दिये हैं। परन्तु वे एकदम ध्यानमें नहीं आते; क्योंकि उनमेंका प्रेम बुद्धिको त्वरित ही अत्यन्त चकित कर डालता है। उपर्युक्त चौपाइयाँ उदाहरणस्वरूप हैं। रावणके और उसके प्रजा-पुत्रादिकोंके कचाकच सिर तोड़नेवाले वे यही हाथ हैं जो अब यहाँ प्रेमकी पराकाष्ठासे भरतजीके बाल सुलझा रहे हैं, और रामजीके प्रेमाश्रुसे पवित्रित किये जानेवाले सरयूजीके जलसे सब भाइयोंको घस-घसके नहला रहे हैं। भाई पाठकगण! यहीं वे हाथ आँख भर देख लीजिये, नहीं तो पछताना ही बाकी रहेगा। इस प्रसङ्गके विषयमें निरपवाद मत यही पाया जाता है कि उसे पढ़कर **'त्वयि हि परिसमाप्तं बन्धुकृत्यं प्रजानाम्'**, इस कालिदासोक्तिकी याद होकर भी जो प्रेमसे 'न रोदिति' उसे भवभूति भी निश्चयसे 'ग्रावा' से भी बत्तर समझेंगे।

पुनि निज जटा राम बिबराए। गुर अनुसासन मागि नहाए॥ ७॥
करि मज्जन प्रभु भूषन साजे। अंग अनंग देखि सत* लाजे॥ ८॥

अर्थ—फिर (भाइयोंको स्नान करानेके पश्चात्) श्रीरामजीने अपनी जटाएँ खोलीं और गुरुकी आज्ञा माँगकर नहाये॥ ७॥ स्नान करके प्रभुने अङ्गोंमें भूषण पहने। शरीर (की शोभा) देख अनन्त कामदेव लज्जित हुए॥ ८॥

टिप्पणी—१ *'पुनि निज जटा......'* इति। (क) जब श्रीरामजीने भाइयोंकी जटाएँ बिबरायीं तब यह भाव देखकर सेवक उनकी जटा न बिबरा सके और तीनों भाइयोंमेंसे कोई इससे यह काम न कर सके कि रामजीने तो हमपर कृपालु होकर वत्सभावसे हमारी जटाएँ खोलीं, अब यदि हम उनकी जटाएँ बिबरायें तो बराबरी होती है, लोग कहेंगे कि रामजीने भाइयोंकी जटाएँ खोलीं, उसके बदलेमें भाइयोंने उनकी खोलीं, हम रामजीकी कृपालुताके बदले उनकी कुछ भी सेवा नहीं कर सकते (बदलेकी योग्यता कहाँ)। भाइयोंका साहस न हुआ तब सेवकका कैसे हो! (ख) *'गुर अनुसासन मागि नहाए।'* सबको नहानेकी आज्ञा श्रीरामजीने दी और अपने स्नानके लिये गुरुसे आज्ञा माँगी। क्योंकि इनका अभिषेक होना है, बिना गुरुकी आज्ञाके स्नान नहीं कर सकते।

रा० प्र०—रामचन्द्रजीने अवधमें जटाएँ नहीं धारण की थीं जिसमें पिताको दुःख न हो। शृङ्गवेरपुरमें माण्डव्य मुनिके स्थानसे वटक्षीर मँगाया गया था। इसमें बड़ी गूढ़ ध्वनि है कि वटक्षीर लानेमें मुनिकी

* 'देषि सत लाजे'—(भा० दा०, रा० गु० द्वि०, पं०, १८१७, १८१८, १८४२, बं० प०) 'कोटि छबि लाजे'—(का०)। यहाँ 'पञ्चम प्रदीप अलङ्कार' है।

आज्ञा एक प्रकारसे जटा धारण करनेमें ले ली। अब जटा उतारनेमें भी गुरुकी आज्ञा ली। आज्ञा लेनेसे गुरुभक्ति-ब्रह्मण्यता इत्यादि जनायी।

वै०—स्नानकी विधि अग्निपुराणके अ० २१९, २२० में विस्तारसे है—[अनेक प्रकारके हवन करके अनेक प्रकारकी मृत्तिकाओंको एक-एक अङ्गमें लगा-लगाकर अनेक तीर्थ-जलोंसे स्नान होता है। टीकामें विस्तारसे उन्होंने इसका विधान दिया है।]

'प्रभु भूषन साजे' अर्थात् पहले भाइयोंको भूषण पहिनाये पीछे आपने पहिने।

पं० रा० व० श०—ये आभूषण पृथक् ही हैं। तिलकके समय ग्रहण किये जाते हैं। वाल्मीकिजी लिखते हैं कि किरीट ब्रह्माजीका बनाया हुआ है और मनुवंशमें जो राजा होते हैं उनको राज्याभिषेकके समय यही किरीट धारण कराया जाता है।

वै०—*'भूषन साजे'* इति। सिरपर सात खण्डका कोटि सूर्य प्रकाशवाला मुकुट, मकराकृति कुण्डल, ग्रीवामें गजमुक्ताका कण्ठा, सात लड़की गुञ्ज, वैजयन्तीमाल, पदिकहार मणिविद्रुमादिकी मोहनमाला और वनमाल एकके नीचे दूसरा क्रमसे, भुजाओं और हाथोंमें अङ्गद, जोशन, कड़े, पहुँची इत्यादि, अँगुलियोंमें मुद्रिकाएँ, वक्षःस्थलपर कौस्तुभमणि, कटिमें काञ्ची (सूक्ष्म किंकिणि, कटिसूत्र), पदमें नूपुर इत्यादि। आभूषणोंका नाम न देकर समयानुकूल सभी आभूषणोंको सूचित कर दिया। पर वास्तवमें इक्ष्वाकुवंशमें इस समय जो किरीट-कुण्डलादि धारण किये जाते हैं वे सब दिव्य हैं।

टिप्पणी—२ *'अंग अनंग देखि सत लाजे'* इति। श्रीरामजीके अङ्ग मनोहर हैं, कामदेवके अङ्ग ही नहीं है। अङ्गमें शोभा होती है जब अङ्ग ही नहीं तब शोभा कहाँ हो? इसीसे अनङ्ग कामदेव लज्जित होते हैं। ☞सत, सहस्र, कोटि इत्यादि सब अनन्तवाची हैं।

दो०—सासुन्ह सादर जानकिहि मज्जन तुरत कराइ।
दिब्य बसन बर भूषन अँग अँग सजे बनाइ॥ ११ क॥
राम बाम दिसि सोभति* रमा रूप गुन खानि।
देखि मातु सब हरषीं जन्म सुफल निज जानि॥ ११ ख॥

अर्थ—सासुओंने श्रीजानकीजीको तुरन्त आदरपूर्वक स्नान कराकर उनके अङ्ग-अङ्गमें दिव्य वस्त्र और सुन्दर भूषण बनाकर (उत्तम रीतिसे) सजाये (पहनाये)। श्रीरामजीके बायीं ओर रूप और गुणकी खानि श्रीजानकीजी सुशोभित हैं। सब माताएँ देखकर अपना-अपना जन्म सुफल (कृतार्थ) जानकर प्रसन्न हुईं।

टिप्पणी—१ *'सासुन्ह सादर.......'* इति। जिस समय उधर श्रीरामजीने भाइयोंकी जटाएँ सुलझाकर उतारीं और स्नान कराया, उसी समय इधर माताओंने श्रीसीताजीको स्नान कराया, इत्यादि। (ख) *'सादर'* अर्थात् चौकीपर वस्त्र बिछाकर उसपर इनको बिठाकर (अङ्गराग, फुलेलादि लगाकर) स्नान कराया। (ग) *'तुरत'* क्योंकि ब्राह्मणोंकी आज्ञा ही ऐसी है—*'अब मुनिबर बिलंब नहिं कीजै'*—जिसके कारण सभी सब कामोंमें जल्दी कर रही हैं। [श्रीसीताजीको स्नान माताओंने कराया। इससे माताओंका उनपर अत्यन्त स्नेह और वात्सल्य पाया जाता है। सब माताएँ मिलकर यह काम कर रही हैं क्योंकि तिलक शीघ्र होना है] यथा—'**कौसल्याद्याश्च मातरः। स्नापयामासुर्माङ्गल्यद्रव्यैर्वाद्यपुरःसरम्॥ ११॥ वस्त्रालङ्कारभूषाभिः शुशुभे जानकी तदा**'—(आ० रा० १। १२) (घ) वस्त्रकी श्रेष्ठता दिखानेके लिये *'दिब्य'* और भूषणकी श्रेष्ठता दिखानेके लिये *'बर'* विशेषण दिये।

२ (क) *'बसन'* को आदिमें कहकर सूचित किया कि षोडश शृङ्गार साजे हैं; क्योंकि सोलहों शृङ्गारके आदिमें वस्त्र है। *'भूषन अँग-अँग सजे'* कहकर बारहों आभूषण सूचित कर दिये। अर्थात् सोलहों

* सोभित।

शृङ्गार किये और बारहों आभूषण सजाये। (ख) *'सजे बनाइ।'* बहुत शीघ्र शृङ्गार हो जानेसे सन्देह होता कि सामान्य शृङ्गार हुआ होगा, इसके निवृत्यर्थ कहा कि *'सजे बनाइ'* अर्थात् अङ्ग-अङ्गमें जहाँ जैसा चाहिये वहाँ वैसा ही भलीभाँति सजाया है।

षोडशशृङ्गार—*'अंग शुची मंजन बसन माँग महावर केश। तिलक भाल तिल चिबुकमें भूषण मेंहदी वेश॥ मिस्सी काजल अर्गजा बीरी और सुगन्ध। पुष्पकलीयुत होइ कर तब नवसमनिबंध॥'* अर्थात् अङ्गमें उबटन लगाना, नहाना, स्वच्छ वस्त्र धारण करना, बाल सँवारना, काजल लगाना, सेंदूरसे माँग भरना, महावर देना, भालपर तिलक लगाना, चिबुकपर तिल बनाना, मेंहदी लगाना, अरगजा आदि सुगन्धित वस्तुओंका प्रयोग करना, आभूषण पहनना, फूलोंकी माला धारण करना, पान खाना, मिस्सी लगाना।

आभूषण १२ हैं—नूपुर, किंकिणी, चूड़ी, अँगूठी, कंकण, बिजायठ, हार, कंठश्री, बेसर, बिरिया, टीका और शीशफूल। इसके चार भेद हैं—१ आवेध्य अर्थात् जो छिद्रद्वारा पहिना जाये, जैसे कर्णफूल, बाली। २ बंधनीय जो बाँधकर पहिने जायँ, जैसे बाजूबंद, पहुँची, शीशफूल। ३ क्षेप्य-जिसमें अङ्ग डालकर पहिनें, जैसे कड़ा-छड़ा। ४ आरोग्य जो किसी अङ्गमें लटकाकर पहिने जायँ जैसे हार, कंठश्री।

बैजनाथजीने अगस्त्यसंहितासे भूषणादिका उल्लेख टीकामें विस्तारसे किया है।

टिप्पणी—३ (क) *'राम बाम दिसि सोभति रमा·········'* इति। इससे सूचित किया कि शृङ्गार हो जानेपर श्रीराम-जानकीजी तबतक सामान्य आसनपर बैठे रहे जबतक वसिष्ठजीने सिंहासन नहीं मँगाया। (ख) *'रमा'* श्रीजानकीजीका नाम है, यथा—*'रमानाथ जहँ राजा सो पुर बरनि कि जाइ', 'अतिहरष मन तन पुलक लोचन सजल कह पुनि पुनि रमा।'* (लं० १०६) (ग) *'देखि मातु सब हरषीं।'* भाव कि अभीतक शृङ्गार करनेमें चित्त रहा अब चित्तकी वृत्ति अच्छी तरह देखनेमें लगी तब हर्षका होना लिखते हैं।

नोट—१ इसमें चार कल्पोंकी कथा है। जिसमें विष्णु, नारायणादिका अवतार है वहाँ 'रमा जो रूप और गुणोंकी खानि हैं' यह अर्थ लिया जायगा और जिसमें द्विभुज परात्परब्रह्मका अवतार है वहाँ 'रमाजीके रूप और गुणोंकी खानि श्रीजानकीजी' एवं 'रूप और गुणोंकी खानि जानकीजी' यह अर्थ होगा क्योंकि इनके विषयमें कह आये हैं कि *'कहिय रमा सम किमि बैदेही', 'तदपि सकोच समेत कबि कहहिं सीय सम तूल', 'रमा रमापति मोहे।'* तथा *'उमा रमा ब्रह्मादि बंदिता।'* (२४। ९)—इत्यादि। 'श्री' और 'रमा' नाम श्रीजानकीजीके इसी ग्रन्थमें अनेक स्थानोंमें आये हैं—*'तदपि अनुज श्री सहित खरारी। बसतु हृदय मम काननचारी॥'* (३। ११। १८) (यहाँ श्रीका अर्थ लक्ष्मी नहीं है), *'उभय बीच श्री सोहइ कैसी'* (यहाँ भी मार्गमें चलती हुई श्रीजानकीजीहीका नाम श्री है न कि लक्ष्मीका), *'श्री सहित दिनकर बंस भूषन काम बहु छबि सोहई'* (१२ छन्द), *'सोइ कर श्री सेवा बिधि जानइ।'* (२४। ७) इत्यादि। और अरण्यकाण्डमें तो 'श्री' बहुत जगह आया है। अत: 'रमारमण' 'श्रीरमण' इत्यादिका अर्थ जानकीपति है। विशेष **'जय राम रमारमनं'** १४ (छन्द) और **प्रनमामि निरंतर श्रीरमनं'** में देखिये। पुनः, राम और रमा ये दोनों नाम यहाँ परात्पर तत्त्वकी अत्यन्त परमा शोभा दर्शित करनेके लिये प्रयुक्त हुए हैं। जैसे **'रमन्ते योगिनोऽस्मिन्'** राम, वैसी ही उनके साथ सबको अपनेमें रमानेवाली श्रीजानकीजी हैं, यह सूचित करनेके लिये 'रमा' नाम दिया गया। दोनोंकी परस्पर शोभा एक-दूसरेके योग्य है, घट-बढ़ नहीं। [करु०—श्रीजानकीजीको रमा कहनेका भाव? २—रमा=लक्ष्मीजी। जितनी लक्ष्मी ब्रह्माण्डकोशमें एवं परधाममें जो परम दिव्य त्रिपाद-विभूतियाँ हैं उन सब विभूतियोंकी 'रमा' संज्ञा है। ये सब विभूतियाँ श्रीजानकीजीके आश्रित हैं, श्रीजानकीजी सबमें रमित हैं और वे सब श्रीजानकीजीमें रमित हैं, तथा श्रीजानकीजी सबसे भिन्न हैं। अथवा, २—श्रीरामचन्द्रजी राज्यपर बैठते हैं। वे सम्पूर्ण जो लक्ष्मी हैं उसके ईश हैं अतएव 'रमा' कहा; क्योंकि श्रीजानकीजीसे समस्त श्री शोभित हैं। अथवा, ३ कारण-कार्य एक ही है इससे रमा कहा। अथवा, ४—दोनोंको अभेद करके 'मा' कहा। अथवा, ५—*'रमारूप गुनखानि'*='रमा' (लक्ष्मी) में जो रूप और गुण हैं उनकी खानि—(मा० म०)]

मा० म०—अथवा, पृथ्वीमें लीलारूपमें अवतार लिया है, अतएव रमा ऐसा रूपगुण माधुर्यभावसे कहा

है, वास्तवमें तो ये रमासे परे हैं। *'रमा आदि मो रूप गुण तिन्ह सबकी ये खानि। वा भूलीला कहि गये इन्हें रमा परमानि॥'* (१२६)

रा० प्र०—रमा=रामरमणी अर्थात् रमानेवाली।

वै०—माधुर्यमें अर्थ यह है कि रूप रमासम है, पर सीताजीमें अधिकता यह है कि ये गुणोंकी खानि हैं, रमामें जो अवगुण हैं वह इसमें नहीं हैं।

दो०—सुनु खगेस तेहि अवसर* ब्रह्मा सिव मुनिबृंद।
चढ़ि बिमान आए सब सुर देखन सुखकंद॥११॥

अर्थ—हे पक्षिराज! सुनिये! उस समय ब्रह्मा, शिव, मुनिवृन्द और सब देवता विमानोंपर चढ़कर आनन्दकन्द श्रीरघुनाथजीके दर्शनको आये॥ ११॥

वै०—*'सुनु खगेस।'* इस समय राज्यसिंहासनासीन रूपका वर्णन है, इसमें उपासना घाटको अधिकार है। इसीसे काकभुशुण्डि-गरुड़-संवाद यहाँ प्रधान है।

पं० रा० व० श०—उत्तरकाण्डमें विशेष गरुड़-भुशुण्डि-संवाद होना है। इससे यह प्रसङ्ग भी उन्हींके संवादसे उठाया है। प्रसङ्गभरमें विशेषरूपसे इनका ही संवाद है। यहाँसे लेकर २२ वें दोहेतक आठ बार गरुड़को सम्बोधित किया है।

१—*'सुनु खगेस तेहि अवसर'*......(यहाँ)' २—*'वह सोभा समाज सुख कहत न बनै खगेस।'* (१२)
३—*'बैनतेय सुनु संभु तब आये।'* (१३) ४—*'सुनु खगपति यह कथा पावनी।'* (१५। १)
५—*'खगपति रामकथा मैं बरनी।'* (१५। ६) ६—*'चित्त खगेस रामकर समुझि परै कहु काहि।'* (१९)
७—*'रामराज नभगेस सुनु'*......' (२१) ८—*'सोउ महिमा खगेस जिन्ह जानी।'* (२२। ४)

☞ नोट—गोस्वामीजीकी प्रत्येक रचना और प्रत्येक शब्दमें औचित्य और सुसङ्गतिका बराबर विचार रहता है। प्रस्तुत प्रसङ्गमें और इसके आगे भी बराबर गरुड़को ही सम्बोधन करनेमें एक खास खूबी है। गरुड़ और भुशुण्डिका संवाद अन्तिम संवाद है और रामराज्योत्सव रामचरितमानसकी अन्तिम कलाका उपक्रम है। यहाँसे बराबर गरुड़का ही सम्बोधन है। यह सही है कि सम्बोधित नाम प्रायः पादपूर्त्यर्थ रख दिया जाता है। किन्तु यदि औचित्य और सङ्गतिका विचार न होता तो शेष तीन सम्बोधितोंके नामोंके इतने पर्याय हैं कि गरुड़के नामोंके पर्यायकी कोई आवश्यकता न पड़ती।

टिप्पणी—१ (क) शिवादि देवता अवसरके जाननेवाले हैं, अवसरपर आये। यथा—*'संभु समय तेहि रामहि देखा।......भरि लोचन छबि सिंधु निहारी। कुसमय जानि न कीन्हि चिन्हारी॥'* (१। ५०), *'सो अवसर बिरंचि जब जाना। चले सकल सुर साजि बिमाना॥'* (१। १९१। ५), *'सुरन्ह सुमंगल अवसर जाना।......शिव ब्रह्मादिक बिबुध बरूथा'।......चले बिलोकन राम बिआहू।'* (१। ३१३), इत्यादि। विशेष बा० ५० (२) लं० ११३, सुं० ३८ (२) देखिये। (ख) *'आए'* शब्द देकर भुशुण्डिजी इस समय अपनी स्थिति भी वहीं दिखाते हैं। यदि ये वहाँ न होते तो यह कहते कि ब्रह्मादिक अवधमें 'गये'। (ग) *'सुखकन्द'।* भाव कि श्रीरामजी सुखके मूल हैं, उन्होंने राक्षसोंको मारकर हमें सुख दिया। अब दर्शनसे सुख मिलेगा इसीसे दर्शन करने आये।

नोट—पुनः, कंद=मेघ, यथा—*'यज्ञोपवीत बिचित्र हेममय मुकुता माल उरसि मोहि भाई। कंद तड़ित बिच ज्यों सुरपतिधनु निकट बलाक पाँति चलि आई॥'*—(गी०) *सुखकंद* =आनन्दरूपी मेघ। भाव कि सब देखनेवालोंपर आनन्दकी वर्षा करनेवाले हैं, सुखकन्दको देखने आये, इसीसे आगे आनन्दका प्राप्त होना भी कहेंगे, यथा—*'परमानंद सुर मुनि पावहीं'* *'हरषि सुरन्ह दुन्दुभी बजाई'।* इन्हींको नहीं वरन् सभीको इस प्रसङ्गमें सुख मिल रहा है अतः *'सुखकंद'* कहा। सुखरूपी मेघ कहकर यह समदर्शता-

* औसर......(का०)। अवसर (१८४२, बं० पा०) (अवसर। भा० दा०)

भाव दर्शित किया है कि ऊँच-नीच, शत्रु-मित्र, उदासीन, सबके लिये समभावसे सुखकी वर्षा कर रहे हैं।

प्रभु बिलोकि मुनि मन अनुरागा। तुरत* दिब्य सिंघासन माँगा॥ १॥
रबि सम तेज सो बरनि न जाई। बैठे राम द्विजन्ह सिरु नाई॥ २॥
जनकसुता समेत रघुराई। पेखि प्रहरषे† मुनि समुदाई॥ ३॥

अर्थ—प्रभुको देखकर मुनि वसिष्ठजीके मनमें अनुराग उत्पन्न हो आया। उन्होंने तुरंत दिव्य सिंहासन माँगा॥ १॥ (जिसका) तेज सूर्यके समान था। वह वर्णन नहीं किया जा सकता। ब्राह्मणोंको माथा नवाकर श्रीरामचन्द्रजी उसपर बैठे॥ २॥ श्रीजानकीजीसहित श्रीरघुनाथजीको देखकर सब मुनिसमुदाय (गिरोह, वृन्द, समूह) अत्यन्त हर्षित हुआ॥ ३॥

नोट—१ *'मुनि मन अनुरागा'।* यहाँ गुरु आदि शब्द न दिया। *'मुनि'* शब्द देकर श्रीसीतारामजीका अतिशय सौन्दर्य प्रकट किया। मुनि मननशील होते हैं, उनमें रागादि कहाँ? पर वे भी प्रभुके रूपमाधुरीके सौन्दर्यपर मुग्ध हो गये, बरबस राग उत्पन्न हो आया। *'मुनि'* पद रखनेसे अनुप्रास भी सिद्ध होता है और गुरुके नाते नहीं, वरन् मुनि या भक्तके नाते अनुराग भी दिखाया जाता है। २—*'दिब्य सिंघासन'* से देवताओंका निर्माण किया हुआ तथा अप्राकृत जनाया। वाल्मीकीय आदिसे जान पड़ता है कि यह सिंहासन वह है जो ब्रह्माजीने मनुजीको दिया था। इसीपर रघुवंशी राजाओंका तिलक होता आया है। दिव्यका अर्थ है तेजोमय। कैसा तेज है यह आगे कहते हैं कि रविसमान है। *'बरनि न जाई'* के दो कारण कहे। दिव्य और रविसम तेजवान् होनेसे।

पं० वि० त्रिपाठीजी—जब मज्जन करके सरकारने भूषण धारण किये, और साक्षात् रमाकी शृङ्गारित मूर्ति उनके वाम भागमें विराजमान हुई, और ब्रह्मा, शिव, मुनि-वृन्द अपने-अपने विमानोंपर सवार होकर अभिषेकोत्सव देखने आये। उस समयका दृश्य देखकर वसिष्ठजीको बड़ा अनुराग हुआ, भौतिक सिंहासन उस दृश्यके अनुकूल नहीं जँचा, अतः उन्होंने दिव्य सिंहासनकी इच्छा की, और वह उनके तपोबलसे ब्रह्मलोकसे आया। *'रबि सम तेज सो बरनि न जाई'* पदसे ही यह बात स्पष्ट है कि वह परिचित सिंहासन नहीं था, जिसपर महाराज दशरथ आदि बैठते थे।

नोट—☞इस प्रसंगमें 'तुरत' शब्द बार-बार कहकर सूचित करते हैं कि रामराज्याभिषेककी सबको बड़ी उत्कण्ठा है और अभिषेकका मुहूर्त्त भी जल्दीका है इसीसे सब काम तुरंत कर रहे हैं—

१ *'रथ अनेक बहु बाजि गज तुरत सँवारे……'* २ *'सुग्रीवादि तुरत अन्हवाए'*
३ *'सासुन्ह सादर जानकिहि मज्जन तुरत कराइ'* ४ *'तुरत दिब्य सिंघासन माँगा'*

☞२—वसिष्ठजीका आनन्द प्रथम कहकर फिर मुनिवृन्दका आनन्द लिखते हैं, उसके अनन्तर माताओंका और तत्पश्चात् देवताओंका आनन्द लिखते हैं। ३—हर्षके अनन्तर सबका कृत्य लिखते हैं—वसिष्ठजीने हर्षित होकर सिंहासन माँगा, मुनिसमुदाय हर्षित हो वेदमन्त्र उच्चारण करने लगा, माताएँ हर्षित होकर आरती करने लगीं और देववृन्द हर्षित होकर नगाड़े बजाने लगे।

पं० रामकुमारजी—१ (क) *'रबि सम तेज'* कहा क्योंकि यह सिंहासन स्वर्णका है जिसमें अनेक दिव्य मणि जड़े हुए हैं, यथा—*'कनक सिंघासन सीय समेता। बैठहिं राम होइ चित चेता॥'* (अ० ११) (ख) *'बरनि न जाई'* कहकर बनावटकी सुन्दरता सूचित की। (ग) *'बैठे राम द्विजन्ह सिरु नाई'* इति। भाव कि ब्राह्मण भूदेव हैं और श्रीरामजी भूपति अर्थात् पृथ्वीके रक्षक हुआ चाहते हैं। बिना ब्राह्मणोंकी कृपाके पृथ्वीकी रक्षा नहीं हो सकती। पुनः, राज्यका मूल धर्म है, बिना धर्मके राज्य चल नहीं सकता और ब्राह्मणभक्तिसे अधिक कोई धर्म नहीं है,

* तुरतहि।

† प्रहर्षे—(का०)। अन्य सबोंमें 'तुरत' पाठ है।

यथा—'*पुन्य एक जग महँ नहिं दूजा। मन क्रम बचन बिप्रपद पूजा॥*' इसीसे प्रथम धर्मका सँभाल करके राज्यपर बैठे। [प्रभु ब्रह्मण्यशिरोमणि हैं। उनका मर्यादापालनार्थ विप्रोंको प्रणाम करना ठीक तौरपर लिखा गया है (रा० प्र०)। १० (४-५) में वि० त्रि० का टिप्पण भी देखिये।]

२ (क) '*जनकसुता समेत*' का भाव कि जैसे विवाहसमय श्रीराम-जानकीजी शृङ्गार करके एक आसनपर बैठे थे उस समयके भी आनन्दका अनुभव इस समय मुनियोंको प्राप्त हो गया। [यथा वहाँ रामजी 'सुखमूल' तथा यहाँ 'सुखकन्द'।] (ख) '*प्रहरषे मुनि समुदाई'।* भाव कि जब तिलककी 'सुघड़ी, सुदिन' सुनाया तब उनके वचन मुनियोंको '*अति भाए*' थे, और अब सिंहासनासीन देखा इससे अब प्रहर्ष हुआ।

बेद मंत्र तब द्विजन्ह उचारे। नभ सुर मुनि जय जयति पुकारे॥ ४॥
प्रथम तिलक बसिष्ठ मुनि कीन्हा। पुनि सब बिप्रन्ह आयसु दीन्हा॥ ५॥

अर्थ—तब ब्राह्मणोंने वेदमन्त्र (शान्ति-स्वस्त्ययन) उच्चारण किया। आकाशमें देवता और मुनि 'जय हो, जय हो' ऐसा पुकारकर कहने लगे अर्थात् उच्चस्वरसे जय-जयकार करने लगे॥ ४॥ सबसे पहले श्रीवसिष्ठमुनिने तिलक किया, फिर सब विप्रोंको (तिलक करनेकी) आज्ञा दी॥ ५॥

टिप्पणी—१ (क) '*बेद मंत्र*' इति। श्रीरामजी ब्राह्मणोंको सिर नवाकर सिंहासनपर बैठे, तब ब्राह्मणलोग श्रीरामजीको वेदमन्त्रोंसे आशीर्वाद देने लगे अर्थात् शान्तिपाठ पढ़ने लगे। जब आकाशमें वेदोंका शब्द पहुँचा तब आकाशमें सुर-मुनि जय-जयकार करने लगे। (ख)'*जय जयति पुकारे।*' पुकार करनेका भाव यह है कि सुर और मुनि ऊँचेपर हैं, यदि पुकारकर (उच्च शब्दसे, जोरसे) जय-जय न बोलते तो पृथ्वीपर सुनायी न देता, रामचन्द्रजीको सुन पड़े इस विचारसे पुकारकर जय-जय बोले। (ग) पृथ्वीपर जो मुनि हैं वे वेद पढ़ते हैं और जो मुनि आकाशमें हैं वे जय बोलते हैं।

२ (क)—'*प्रथम तिलक बसिष्ठ*.........' इति। वसिष्ठजी गुरु हैं और पिताके स्थानमें हैं, इसीसे प्रथम आपने तिलक किया और सब मुनियोंमें श्रेष्ठ हैं, इससे सबको तिलक करनेकी आज्ञा दी।—('*सब बिप्रन्ह*' अर्थात् वामदेव, जाबालि, अगस्त्य, गौतम, कश्यप, मार्कण्डेय इत्यादि।)

सुत बिलोकि हरषी* महतारी। बार बार आरती उतारी॥ ६॥
बिप्रन्ह दान बिबिध बिधि दीन्हे। जाचक सकल अजाचक कीन्हे॥ ७॥
सिंघासनपर त्रिभुअन साँई। देखि सुरन्ह दुंदुभी बजाई॥ ८॥

अर्थ—पुत्रको देखकर माताएँ प्रसन्न हुईं और बारंबार आरती उतार रही हैं॥ ६॥ ब्राह्मणोंको अनेक प्रकारके दान दिये। सब मँगताओंको अयाचक बना दिया (अर्थात् वे धनी हो गये, उनको भीख माँगनेकी आवश्यकता न रह गयी)॥ ७॥ त्रिलोकीके स्वामी श्रीरामचन्द्रजीको सिंहासनपर (बैठे) देखकर देवताओंने नगाड़े बजाये॥ ८॥

टिप्पणी—१ (क) जब सब मुनि तिलक कर चुके तब माताएँ आयीं। माताओंको हर्ष दो बार लिखते हैं—एक '*देखि मातु सब हरषीं जनम सुफल निज जानि॥*' (११) दूसरे यहाँ '*सुत बिलोकि हरषी महतारी।*' प्रथम बार शृङ्गार करके (हो जानेपर) देखा, दूसरी बार सिंहासनासीन होनेपर देखा। दोनों बार हर्ष हुआ, पर प्रथम बार आरती नहीं उतारी थी। वहाँ उसके उतारनेका समय न था और यहाँ सिंहासनासीन होनेपर उतारनेका समय है इससे यहाँ आरती उतारी। (ख) '*बिप्रन्ह दान बिबिध बिधि दीन्हे*' इति। भरतमिलापमें निछावरवालोंको माताएँ निछावर दे चुकी हैं, यथा—'*नाना भाँति निछावरि करहीं। परमानंद हरष उर भरहीं॥*' (७। ५) रहे ब्राह्मण, याचक, सो उनको अब देती हैं।

२ '*सिंघासन पर त्रिभुअन साँई।*.........' इति। '*त्रिभुअन साँई*' का भाव कि श्रीरामजी केवल मृत्युलोकके

* हरषीं.........(रा० प०)

राजा नहीं हैं, त्रिलोकके राजा हैं। त्रिभुवनपति हैं अतः हमारे भी राजा हैं, हमारा भी प्रतिपाल करेंगे; यह समझकर हर्षित हुए। यथा—*'राम राज बैठे त्रयलोका। हरषित भए गए सब सोका॥'* अथवा, श्रीरामजीको त्रिलोकका एकमात्र राजा समझकर सुखी हुए।*

(गीतावली)—'**आजु अवध आनंद बधावन रिपु रन जीति राम आए।**
सजि सुबिमान निसान बजावत मुदित देव देखन आए॥
घर घर चारु चौक चंदन मनि मंगल कलस सबन्हि साजे।
ध्वज पताक तोरन बितान बर बिबिध भाँति बाजन बाजे॥
रामतिलक सुनि द्वीप-द्वीपके नृप आए उपहार लिए।
सीयसहित आसीन सिंघासन निरखि जुहारत हरष हिए॥
मंगलगान बेदधुनि जयधुनि मुनि असीस धुनि भुवन भरे।
बरषि सुमन सुर सिद्ध प्रसंसत सबके सब संताप हरे॥
रामराज भइ कामधेनु महि सुख संपदा लोक छाए।
जनम-जनम जानकीनाथके गुनगन तुलसिदास गाए॥'

नोट—*'प्रभु बिलोकि मुनिमन अनुरागा', 'देखि प्रहरषे मुनि समुदाई', 'सुत बिलोकि हरषी महतारी'* और *'देखि सुरन्ह दुंदुभी बजाई'* यहाँ वसिष्ठजी, मुनिसमुदाय, माताओं और देवताओंका पृथक्-पृथक् देखना कहा है, कारण कि यह देखना पृथक्-पृथक् भावोंसे है। इसी तरह धनुषयज्ञमें तथा धनुर्भङ्ग होनेपर पृथक्-पृथक् भावानुसार देखना वर्णन किया गया है—*'जाकी रही भावना जैसी। प्रभु.........'*।

(हरिगीतिका)

छं०—नभ दुंदुभी बाजहिं बिपुल गंधर्ब किंनर गावहीं।
नाचहिं अपछरा बृंद परमानंद सुर मुनि पावहीं॥
भरतादि अनुज बिभीषनांगद हनुमदादि समेत ते।
गहे छत्र चामर ब्यजन धनु असि चर्म सक्ति बिराजते॥ १॥

शब्दार्थ—'**अपछरा**' (अप्सरा)=देवाङ्गनाएँ। अप=दूध। (क्षीरसागर) के मन्थनसे साठ करोड़ स्त्रियाँ उत्पन्न हुईं, इससे उनका नाम अप्सरा हुआ। यथा—'**उत्पेतुर्मनुजश्रेष्ठ तस्मादप्सरसोऽभवन्।** (वाल्मी० १। ४५। ३३) **षष्टिः कोट्योऽभवंस्तासामप्सराणां सुवर्चसाम्॥**' (३४)

अर्थ—आकाशमें बहुत नगाड़े बज रहे हैं। बहुत-से गन्धर्व और किन्नर गा रहे हैं। अप्सराओंके झुंड-के-झुंड नाच रहे हैं। देवता और मुनि परम आनन्द पा रहे हैं। श्रीभरत, लक्ष्मण और शत्रुघ्न छोटे भाई, (सुग्रीव), विभीषण, अङ्गद और हनुमान्‌जी आदि वानरोंसहित वे (क्रमसे) छत्र, चँवर, पंखा, धनुष, तलवार, ढाल और शक्ति लिये हुए विराजमान हैं॥ १॥

टिप्पणी—१ (क) दुन्दुभी बजाना, गन्धर्वादिका गाना, अप्सराओंका नाचना और सुर-मुनिका परमानन्द

* वै०—देवताओंने नगाड़े बजाये, इस हर्षसे कि रावणका नाश कर सुख दिया। यथा— 'यह दुष्ट मारेउ नाथ। भए देव सकल सनाथ॥' (लं० ११३।' (इन्द्रकृत स्तुति), 'दसमुख बिबस तिलोक लोकपति बिकल बिनाये नाक चना हैं। सुबस बसे गावत जिन्हके जस अमर नाग नर सुमुखि सना हैं॥' (गी० ७। १३) अब राजा होनेसे अधिक धर्मवृद्धि होगी, हमें यज्ञादिमें परिपूर्ण भाग मिला करेगा। सेवा एवं कृतकृत्यता जनानेके लिये नगाड़े बजाये। (रा० प्र०) 'सिंघासन पर त्रिभुअन साँई.........' में यह भी भाव है कि अबतक जो इस सिंहासनपर बैठते आये वे तीनों लोकोंके स्वामी न होते थे, फिर भी वे जबतब देवासुरसंग्रामोंमें सहायता करते थे और ये तो त्रिभुवननाथ ही हैं, अतः ये तो स्वयं ही हमारी रक्षा करते रहेंगे। यह समझकर मारे हर्षके नगाड़े बजाने लगे।

पाना एक साथ लिखकर जनाया कि दुन्दुभी ऐसी मधुर बज रही है कि उनके साथमें गन्धर्व, किन्नर गाते हैं और इनके गानके साथमें अप्सराएँ नाचती हैं। (ख) पूर्व सुर-मुनि श्रीरामजीको देखकर आनन्दको प्राप्त हुए, यथा—*'नभ सुर मुनि जय जयति पुकारे'* और अब गन्धर्वादिके मुखोंसे रामयश सुनकर परम आनन्दको प्राप्त हुए। ☞ दर्शनसे आनन्द और यश-श्रवणसे परमानन्द हुआ। तात्पर्य यह कि भक्तोंको रामजीसे अधिक रामचरित प्रिय है। पुनः, परमानन्द पानेका दूसरा भाव यह है कि गन्धर्वोंका गाना और अप्सराओंका नाचना मनुष्योंको प्राप्त नहीं है; क्योंकि वे आकाशमें हैं और ये पृथ्वीपर, जो सुर-मुनि आकाशमें हैं वे सुनकर परमानन्द पाते हैं।

२—*'भरतादि अनुज.........'* इति। (क) सबका कृत्य लिखकर अब भाइयोंका कृत्य लिखते हैं। यहाँ यथासंख्यालंकारसे लिखते हैं—श्रीभरतजी छत्र लिये हैं, श्रीलक्ष्मणजी चँवर चलाते हैं, श्रीशत्रुघ्नजी पंखा कर रहे हैं, श्रीविभीषणजी धनुष-बाण लिये हैं, अङ्गदजी असि और चर्म लिये हैं, हनुमान्‌जी शक्ति लिये हैं। हनुमदादि कहकर जनाया कि और बहुत-से वानरवीर अस्त्र-शस्त्र धारण किये खड़े हैं। ☞ भरतजी छत्र लिये पीछे खड़े हैं, लक्ष्मणजी दाहिनी ओर चँवर करते हैं। शत्रुघ्नजी बायीं ओर पंखा झल रहे हैं और सम्मुख दिशा खुली हुई है। जिसमें लोग दर्शन कर सकें, भेंट देनेवाले भेंट देने आ सकें इत्यादि। विभीषणजी पीछे हैं, अङ्गद दाहिनी ओर हैं और हनुमान्‌जी बायीं ओर।

नोट—१ ☞ अगस्त्यसंहितामें १६ पार्षद गिनाये गये, उनमेंसे ६ के नाम यहाँ दिये गये हैं। 'आदि' से शेष १० पार्षदोंका ग्रहण हो सकता है। वे ये हैं—श्रीसुग्रीवजी, दधिमुखजी, जाम्बवन्तजी, सुषेणजी, कुमुदजी, नीलजी, नलजी, गवाक्षजी, पनसजी और गन्धमादनजी। श्रीसुग्रीवजीका नाम गोस्वामीजीने स्पष्ट नहीं लिखा यद्यपि ये प्रथम सखा हैं। इसका क्या कारण है यह तो वे ही जानें। पर यहाँ हनुमदादि और भरतादि इन दोनों शब्दोंमें 'आदि' शब्दका प्रयोग हुआ है। इसीमेंसे किसीमें सुग्रीव और जाम्बवन्तादिको मानना पड़ेगा। सुग्रीव प्रथम सखा हैं तब विभीषण हैं। मानसमें प्रायः सर्वत्र सुग्रीवको विभीषणके पहले नहीं तो साथ-साथ तो अवश्य इसी कारणसे रखा है। यथा—*'सुनु कपीस अंगद लंकेसा। पावन.........'*। इस विचारसे भाइयोंके बाद और विभीषण तथा अङ्गदके पहले उनको यदि रखें तो 'भरतादि अनुज' में लक्ष्मण, शत्रुघ्न और सुग्रीव तीनों आ जाते हैं। वाल्मीकीयमें श्रीभरतजीने सुग्रीवको अपना पाँचवाँ भाई कहा है, यथा—**'त्वमस्माकं चतुर्णां तु भ्राता सुग्रीवपञ्चमः'** (१३०। ४५। च० सं०)। अर्थात् हे सुग्रीव! हम तो चार भाई थे ही, आप हमारे पाँचवें भाई हैं। इस प्रमाणसे *'भरतादि अनुज'* पदसे सुग्रीवजीका भी ग्रहण हो जाता है। श्रीसुग्रीव, विभीषण, अङ्गद, हनुमान्‌जीका जहाँ-जहाँ एक साथ वर्णन है वहाँ-वहाँ अधिकतर प्रायः 'सुग्रीवको' इसी क्रमसे स्थान दिया गया है। सुवेलकी झाँकीमें भी यही क्रम है। कोई-कोई महानुभाव हनुमदादिके 'आदि' में सुग्रीवको लगाते हैं। पं० रामकुमारजी भी अपने एक खर्रेमें लिखते हैं कि 'हनुमदादि' से सुग्रीवका ग्रहण नहीं हो सकता, क्योंकि सुग्रीव मुख्य हैं। इससे अन्य वीर वानर ही ग्रहण होंगे।—*'लंकापति कपीस नल नीला। जामवंत अंगद सुभसीला॥ हनुमदादि सब बानर बीरा।'* (८। १-२)

नोट—बैजनाथजी आदि कई टीकाकारोंने अर्थ करनेमें गोस्वामीजीका क्रम न रखकर अन्य रामायणोंका क्रम दिया है। पर हमारी समझमें क्रमका परिवर्तन ठीक नहीं है। ऋषियोंमें इस स्थानके ध्यानमें मतभेद है। यदि मतभेद न होता तो उनके अनुसार क्रम बदल डालनेमें अधिक अनुचित न जान पड़ता। पर मतभेद है तब मानसका क्रम ही मानसकविको अभिप्रेत समझा जायगा। पं० श्रीरामवल्लभाशरणजीका भी यही मत है। वे यह भी कहते हैं कि तुलसीदासजीने *'रामबामदिसि जानकी लषन दाहिनी ओर'* इस ध्यानको *'सकल कल्याणमय'* (दोहावलीमें) कहा है। बस, उसीके अनुसार यहाँ श्रीलक्ष्मणजीको उनके दाहिने चँवर लिये समझना चाहिये। श्रीभरतजीका स्थान छत्र लिये हुए पीछे होना भी इससे निश्चित हो गया। श्रीशत्रुघ्नजी बायीं ओर हैं। हनुमान्‌जी सम्मुख रहते हैं वैसे ही यहाँ भी समझना चाहिये।

गौड़जी—राजतिलकोत्सवके इस विशेष अवसरपर जिन-जिन पार्षदोंने जिस-जिस विशिष्ट सेवाको ग्रहण किया था वह प्रत्येक अवतारके लिये अलग-अलग हो सकता है, इसलिये रामायणोंमें इस सम्बन्धमें मतभेद

हो तो कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। नित्यके दरबारमें इसी क्रमकी कोई आवश्यकता नहीं है। सामीप्यवाले पार्षद अपने क्रम आवश्यकतानुसार बदलते रहते हैं। यहाँ सोलहों पार्षदोंमें केवल छः के नाम देकर इत्यादि कर दिया है। प्रयोजन केवल यही है कि मानसकार सारप्रेमी हैं, विस्तारप्रेमी नहीं हैं।

छं०—श्रीसहित दिनकर बंस भूषन काम बहु छबि सोहई।
नव अंबुधर बर गात अंबर पीत सुर मन मोहई॥
मुकुटांगदादि बिचित्र भूषन अंग अंगन्हि प्रति सजे।
अंभोज नयन बिसाल उर भुज धन्य नर निरखंति जे॥ २॥

अर्थ—श्रीजानकीजीसहित सूर्यकुलके भूषण श्रीरामचन्द्रजीके शरीरमें बहुत-से कामदेवोंकी छवि शोभा दे रही है। नवीन सजल काले मेघोंके समान सुन्दर श्रेष्ठ शरीरमें पीताम्बर देवताओंके मनको मोहित कर रहा है। मुकुट और अङ्गद आदि विचित्र आभूषण अङ्ग-अङ्गमें सजे हुए हैं। कमलदलके समान विशाल (बड़े) नेत्र हैं और वक्षःस्थल एवं भुजाएँ विशाल हैं (अर्थात् छाती चौड़ी है। आजानुबाहु हैं। भुजाएँ घुटनेतक लम्बी हैं)। जो दर्शन कर रहे हैं वे मनुष्य धन्य हैं॥ २॥

टिप्पणी—१ (क) भाइयों, सखाओं अर्थात् परिकरोंसमेत जो शोभा श्रीरामजीकी है वह ऊपर छन्दमें कही, अब उनके स्वरूपकी शोभा कहते हैं। (ख) *'श्रीसहित दिनकर बंस भूषन………'* इति। दिनकरवंश स्वयं शोभित है, आप उसके भूषण हैं अर्थात् आप उसको भी शोभित करनेवाले हैं। (ग) *'नव अंबुधर बर गात………'* इति। शरीरके वर्णको नये सजल श्याममेघोंकी उपमा देकर पीताम्बर धारण किये होना कहकर जनाया कि श्याम-शरीरपर पीताम्बरकी छटा ऐसी देख पड़ती है, मानो श्याम सजल मेघोंमें विद्युत् (बिजली) अपनी चञ्चलता छोड़कर स्थिर हो गयी। यथा—*'अमल मरकत श्याम कामसतकोटि छबि पीतपट तड़ित इव जलद नीलं॥'* (वि० ६१) *'नव अंबुधर बर गात'* से जनाया कि आपका शरीर नव अम्बुधरसे श्रेष्ठ सुन्दर है और *'अंबर पीत'* भी कहकर तब *'सुर मन मोहई'* कहनेसे सूचित हुआ कि पीताम्बरकी छटा बिजलीसे कहीं श्रेष्ठ है, यथा—*'तड़ित बिनिंदक पीतपट।'* (१४७) *'तड़ित बिनिंदक बसन सुरंगा।'* (१। ३१६) *'पीत पुनीत मनोहर धोती। हरति बालरबि दामिनि जोती॥'* (१। ३२७। ३) पुनः, *'सुर मन मोहई'* का भाव कि मेघ और बिजली ये दोनों स्वर्गके पदार्थ हैं, उनसे भी यहाँ विलक्षण देखते हैं। मेघोंकी श्यामतासे रामरूपकी श्यामता विलक्षण है, बिजलीकी ज्योतिसे पीताम्बरकी ज्योति विलक्षण है, अतएव देवता मोहित हो गये। (घ) केवल देवताओंके मोहकथनका भाव कि जब वे ही श्रीरामरूपकी शोभा देख मोहित हो गये तब औरोंकी क्या कही जाय?

२ *'मुकुटांगदादि बिचित्र भूषन………'* इति। (क) पूर्व लिख आये कि *'करि मज्जन प्रभु भूषन साजे।'* भूषणोंका नाम वहाँ नहीं दिया, यहाँ कुछ आभूषणोंके नाम लिखते हैं। 'अंगदादि' से भुजाओंसे लेकर उँगलीतकके भूषण सूचित किये। अर्थात् बिजायठ, पहुँची, कड़े, मुद्रिका इत्यादिसे सिरसे लेकर नखतकके भूषण जनाये। अर्थात् मुकुट, कुण्डल, बुलाक, हृदयमें मणियोंकी माला, करधनी, नूपुर इत्यादि। (ख) प्रथम 'मुकुट' का नाम दिया; क्योंकि शृङ्गारका वर्णन मस्तकसे होता है। (ग) *'बिचित्र'* से जनाया कि आभूषणोंमें अनेक रंगकी मणियाँ जड़ी हुई हैं।

३ *'धन्य नर निरखंति जे।'* वर्तमान क्रियाका भाव कि उस समयके मनुष्य तो धन्य ही हैं कि जिन्होंने श्रीरामजीको देखा है [वाल्मीकीयमें रावणवधके पश्चात् महाराज श्रीदशरथजीने भी ऐसा ही श्रीरामजीसे कहा है। यथा—'**सिद्धार्थाः खलु ते राम नरा ये त्वां पुरीं गतम्। जलार्द्रमभिषिक्तं च द्रक्ष्यन्ति वसुधाधिपम्॥**' (१२२। १९ चं० सं०) अर्थात् हे राम! सचमुच उन अवधवासियोंकी अभिलाषा पूर्ण हो जायगी जो देखेंगे कि तुम वनसे लौटकर नगरमें आ गये और राजसिंहासनपर जलसे अभिषिक्त किये जाकर राजा हो गये हो]। पर इस समयके भी मनुष्य धन्य हैं जिनके हृदयमें उस मूर्तिका ध्यान आवे।

पं० रा० व० श०—*'मुकुटांगदादि'* इति। प्रथम चक्रवर्ती राजा इक्ष्वाकुजी हुए हैं। उनके राज्याभिषेकके समय ब्रह्माजीने मुकुटादिका निर्माणकर इनको लाकर दिये थे। जब नया राजा होता, तब राज्याभिषेकमात्रके लिये एक ही दिन ये मुकुटादि धारण किये जाते थे। जब श्रीरघुनाथजी राजा हुए तब वे उसे नित्यप्रति धारण करते थे।

दो०—वह सोभा* समाज सुख कहत न बनै खगेस।
बरनै सारद सेष श्रुति सो रस जान महेस॥

अर्थ—हे गरुड़! वह शोभा, वह समाज और वह आनन्द मुझसे कहते नहीं बनता। शारदा, शेष और श्रुति वर्णन करते हैं पर वह रस (स्वाद—आनन्द) महादेवजी ही जानते हैं।

टिप्पणी—१ (क) *'वह सोभा समाज"""।'* जब श्रीभुशुण्डिजीने गरुड़जीसे यह कथा कही तब वर्तमानकाल न था—(यह कथा २७ कल्प पीछे गरुड़जीसे कही गयी थी) यथा—*'इहाँ बसत मोहि सुनु खग ईसा। बीते कल्प सात अरु बीसा॥'* (११४। १०) इसीसे 'वह' पद दिया। (ख) *'बरनै सारद"""।'* भाव कि शारदादि हमसे अधिक हैं, जो हमसे नहीं बना सो उन्होंने कहा है और इनसे भी शिवजी अधिक हैं जो रस जानते हैं।

पं० रा० व० श०—जो जितना अधिक रामतत्त्वका ज्ञाता है वह उतना ही अधिक रस जानता और पाता है। शिवजीके समान रामतत्त्वका जाननेवाला दूसरा नहीं है, इसीसे *'सो रस जान महेस'* कहा। भाव कि शोभा, समाज और सुख तीनों अद्भुत थे, अलौकिक थे, अप्राकृत थे।

वै०—*'बरनै सारद सेष श्रुति"""'* शारदा वर्णन करती है कि सप्ताङ्गराज्यश्रीसहित एक आसनपर आसीन हैं अतः इस समय शृङ्गाररस है, शेषजी कहते हैं कि धर्म, दान, दया इत्यादि वीरता-परिपूर्ण वीरोंके समाजमें सिंहासनासीन होनेसे वीररस है, श्रुति कहती है कि इस समय समस्त पुरजन, देव-मुनिवृन्दादि सभी परमानन्दमें मग्न हैं और प्रभु तो अखण्डानन्दरूप ही हैं, अतः इस समय शान्तिरस है। भुशुण्डिजी कहते हैं कि इत्यादि प्रकारेण सब वर्णन तो करते हैं पर यथार्थ रस कोई भी न जान पाये, क्योंकि यथार्थतः यहाँ ये कोई रस नहीं हैं, यहाँ तो अद्भुत रस है। उस रसको एक महेशजी ही जानते हैं। महेश ही जानते हैं यह बात प्रकरणसे सिद्ध है, क्योंकि प्रभुके स्नानके पूर्व उमा-महेश्वर-संवाद रहा, पर स्नानके बाद शोभा देख शिवजी विभ्रम हो गये, बेसुध हैं, शोभामें मग्न हैं इसीसे उनका संवाद यहाँ छूट गया।

दो०—भिन्न भिन्न अस्तुति करि गए सुर निज निज धाम।
बंदी बेष बेद तब आए जहँ श्रीराम॥
प्रभु सर्बग्य कीन्ह अति आदर कृपा निधान।
लखेउ न काहू मरम कछु लगे करन गुनगान॥१२॥

अर्थ—सब देवता पृथक्-पृथक् स्तुति करके अपने-अपने धामको गये। (अर्थात् जो स्तुति एकने की वह दूसरा नहीं करता, वरन् अपनी बुद्धिमत्तासे दूसरे प्रकारकी स्तुति करता है। प्रत्येक देवताने स्तुति की।) तब भाटोंके वेषमें वेद वहाँ आये जहाँ श्रीरामजी थे। दयासागर, सर्वज्ञ प्रभुने उनका अत्यन्त आदर किया, किसीने कुछ मर्म (भेद) न लख पाया और वे गुणगान करने लगे॥ १२॥

नोट—१ (क) *'भिन्न भिन्न अस्तुति करि।'* सब देवताओंके हृदयमें रामभक्ति है, इसीसे सबने भिन्न-भिन्न स्तुति की। [भिन्न-भिन्न स्तुति अ० रा० १५ में दी हुई है। इन्द्र, पितर, यक्षादिने अलग-अलग स्तुति की है। इन्द्र, देवगण और पितृगणकी स्तुतियोंका सारांश यही था कि रावणने हमारा सुख, हमारा यज्ञोंका

* भा० दा० एवं वं० पा० में 'वोह' पाठ है और अन्यमें 'वह' है

भाग हर लिया था, उसे मारकर आपने हमें वे भाग पूर्ववत् प्राप्त करा दिये। यक्षोंने कहा कि रावणकी पालकीमें हमें जुतना पड़ता था, वह कष्ट आपने दूर कर दिया। गन्धर्वोंने कहा कि पहले हम आपकी कथाएँ गाते थे, पर रावणद्वारा आक्रान्त होकर हमें उसीके गुणगान करने पड़ते थे, आपने हमें बचा लिया। इसी प्रकार महानाग, सिद्ध, किन्नर, मरुत्, वसु, मुनि, गौ, गुह्यक, पक्षी, प्रजापति और अप्सराओंके समूह—सभी श्रीरामजीके पास आये और पृथक्-पृथक् स्तुति करके अपने-अपने लोकोंको गये। यथा—'**एवं महोरगाः सिद्धाः किन्नरा मरुतस्तथा॥ वसवो मुनयो गावो गुह्यकाश्च पतत्त्रिणः। सप्रजापतयश्चैते तथा चाप्सरसां गणाः॥ सर्वे रामं समासाद्य दृष्ट्वा नेत्रमहोत्सवम्। स्तुत्वा पृथक् पृथक् सर्वे राघवेणाभिवन्दिताः॥ ययुः स्वं स्वं पदं सर्वे ब्रह्मरुद्रादयस्तथा। प्रशंसन्तो मुदा रामं गायन्तस्तस्य चेष्टितम्॥ ध्यायन्तस्त्वभिषेकार्द्रं सीतालक्ष्मणसंयुतम्। सिंहासनस्थं राजेन्द्रं ययुः सर्वे हृदिस्थितम्॥**' (७०—७४) ग्रन्थविस्तारके भयसे मानसकविने उन्हें यहाँ नहीं दिया, इशारा भर कर दिया है।] भिन्न-भिन्न स्तुतिसे देवताओंकी बुद्धिमानी पायी गयी। (पं० रा० कु०) (ख) '*निज निज धाम*' जानेका भाव कि रावणके भयसे देवता सुमेरुकी खोहमें रहा करते थे, यथा—'*रावन आवत सुनेउ सकोहा। देवन्ह तके मेरु गिरि खोहा॥*' (१। १८२) अब सब अपने-अपने धामको गये।

२—'*बंदी बेष बेद*.......' इति। भाट लोग गुणगान करते हैं। वेद भगवान्‌के भाट हैं, भगवान्‌का गुणगान करते हैं, यथा—'*बंदी बेद पुरान गन कहहिं बिमल गुनग्राम।*' (अ० १०५) इसीसे भगवान्‌का गुणगान करनेके लिये वन्दिवेषसे आये। पुनः, दूसरा भाव वन्दिवेषका यह है कि वेदोंको श्रीरामजीके पासतक पहुँचना है, भाट लोग राजाके पास खड़े होकर बड़ाई करते हैं। [पर अ० रा० में देवताओंका पृथिवीपर आना कहा है। (मा० सं०)] '*आए जहँ श्रीराम*' कहकर जनाया कि देवताओंने आकाशसे ही स्तुति की, जहाँ रामजी हैं वहाँ नहीं आये।

वै० रा० प०—वेदोंका स्वरूप इस प्रकार है। १ ऋक्—५ बीता लम्बे, अरुण वर्ण, कमलनयन, अत्रिगोत्र, ब्रह्मा देवता, गायत्री छन्द। २ यजुः—४ हाथ लम्बे, ताम्रवर्ण, दुबले, कपालधारी, भरद्वाजगोत्र, महादेव देवता, त्रिष्टुप् छन्द। ३ साम—पाँच हाथ लम्बे, माला, दण्ड और पवित्र वस्त्रधारी, रविसम, शान्त-दान्त, काश्यप गोत्र, विष्णु देवता, जगती छन्द । ४—अथर्वण—सात हाथके लम्बे, तोषी, कोपी, कामी, नीलकमल वर्ण, वैतायन गोत्र, इन्द्र देवता, अनुष्टुप् छन्द।—चारोंका ऐसा स्वरूप है पर वेष वन्दीका बनाये हैं अर्थात् पाग बाँधे, जामा पहिने इत्यादि।

पं० रा० व० श०—वन्दिवेषसे वेदोंका आना युक्तियुक्त ही है। वेद भगवान्‌के बन्दी कहे गये हैं। परीक्षित्‌जीके प्रश्न करनेपर कि 'ब्रह्म तो अनिर्देश्य है, उसमें रजादि गुण नहीं हैं और वेद त्रिगुणात्मक हैं तब ये ब्रह्मके गुण कैसे प्रतिपादन करते हैं' श्रीसनन्दनजीने कहा है कि जैसे राजा सोते हैं तब वन्दीगण उन्हें जगाते हैं वैसे ही। (भा० १०। ८७। १, १२-१३) यथा—'**ब्रह्मन् ब्रह्मण्यनिर्देश्ये निर्गुणे गुणवृत्तयः। कथं चरन्ति श्रुतयः साक्षात् सदसतः परे॥ स्वसृष्टमिदमापीय शयानं सहशक्तिभिः। तदन्ते बोधयाञ्चक्रुस्तल्लिङ्गैः श्रुतयः परम्॥ यथा शयानं सम्राजं वन्दिनस्तत्पराक्रमैः। प्रत्यूषेऽभ्येत्य सुश्लोकैर्बोधयन्त्यनुजीविनः॥**'

३ (क) '*प्रभु सर्बग्य कीन्ह*.......' अर्थात् वेद वन्दिवेषसे आये तो भी रामजी उन्हें जान गये क्योंकि सर्वज्ञ हैं। जान गये इसीसे आदर किया, नहीं तो यहाँ वन्दीजनके आदर करनेका प्रयोजन ही क्या था? (ख) वेदोंपर कृपा करके उनका आदर किया अर्थात् उनका मानसिक स्वागत और पूजन किया। '*लखेउ न काहू मरम कछु*' से सूचित किया कि वेदोंने ऐसा यथार्थ वन्दिवेष बनाया कि कोई न जान पाया कि ये वेद हैं। वन्दी गुणगान करते हैं इसीसे ये भी गुणगान करने लगे।—[आदर-मान देनेका मर्म भी किसीने न जाना। (रा० प्र०)]

(हरिगीतिका छन्द)

जय सगुन निर्गुन रूप रूप अनूप भूप सिरोमने।
दसकंधरादि प्रचंड निसिचर प्रबल खल भुजबल हने॥

अर्थ—हे भूपशिरोमणे! आपकी जय हो। आपके सगुण और निर्गुण दोनों रूप हैं,* सगुण और निर्गुण दोनोंसे यह भूपशिरोमणिरूप उपमारहित है (अर्थात् जो सुख इस रूपमें प्राप्त होता है वह अन्यत्र नहीं मिलता)। रावणादि प्रचण्ड, प्रबल और दुष्ट राक्षसोंको अपनी भुजाओंके बलसे आपने मारा।

पं० रा० व० श०—'*सगुन निर्गुन*·······*।*' भाव कि आप सगुण भी हैं, निर्गुण भी हैं, वस्तुतः आप क्या हैं यह हम नहीं कह सकते। सनकादिकने यह देख कि आपके रूपको न निर्गुण ही कह सकते हैं न सगुण ही, वह तो अचिन्त्य है, मन-वाणीसे अगोचर है, इस बखेड़ेमें न पड़कर कि वह सगुण या निर्गुण या क्या है, उन्होंने भक्ति की। यथा—'***जासु गुन रूप नहिं कलित निर्गुन सगुन संभु सनकादि सुक भक्ति दृढ़ करि गही***'—(गी० ७। ६)। वही भाव स्तुतिमें वेदोंका है कि हम कुछ निश्चय नहीं कर सकते, हम आपकी सदा भक्ति करते हैं। जैसा आगे कहते हैं—'***जस नित गावहीं***', '***रूप अनूप***' अर्थात् उसे न सगुण कह सकें न निर्गुण, उसकी किसीसे उपमा नहीं दे सकते।

पं० रा० कु०—(क) '***जय सगुन निर्गुन रूप***' अर्थात् मत्स्यादिक आपके सगुणरूप हैं, ब्रह्म आपका निर्गुणरूप है। (ख) प्रथम '***सगुन रूप***' कहा क्योंकि यहाँ सगुणरूप विद्यमान है, निर्गुण विद्यमान नहीं है!

खर्रा—'***जय सगुन***·······' इति। हे सगुणरूप! हे निर्गुणरूप! हे अनूपरूप! हे भूपशिरोमणे! आपकी जय हो। सगुण श्रीमन्नारायणादि भगवद्विग्रहमात्र और निर्गुण अव्यक्तमात्र, सो दोनों रूप 'विहाराधिष्ठान' हैं, आप दोनोंमें रूपी होकर वर्तमान हैं। अतएव '***रूप अनूप***' है, द्वितीय सादृश्यरहित है। '***भूप सिरोमने***' अर्थात् समस्त भूपालोंमें शिरोमणि।

मा० म०—'***जय सगुन निर्गुन रूप***' इति। प्रथम सगुण कहा तब निर्गुण। कारण यह कि निर्गुण ब्रह्म (सगुण) श्रीरामचन्द्रका प्रतिबिंब है। यह '***इति बेद बदंति न दंत कथा। रबि आतप भिन्न न भिन्न जथा***', '***जो गुन रहित सगुन सो कैसे। जल हिम उपल बिलग नहिं जैसे॥***' का उत्तर है। तात्पर्य यह कि जैसे रवि और रविका धर्म आतप है वैसे ही श्रीरामचन्द्र और निर्गुण ब्रह्म हैं। और जैसे जल, हिम और उपल होता है (परतमस्वरूप) श्रीरामचन्द्रका निर्गुण ब्रह्म और सगुणरूप है।·······श्रुति कहती है '**न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मनो न विद्मो न विजानीमो**' अर्थात् परमात्मामें न नेत्र गमन करता है, न वचन और न मन ही गमन करता है। तब उस परमात्माको रूपरहित कहना वा रूपसहित कहना श्रुतिसम्मत नहीं है। पुनः श्रुति '**तस्य भासा सर्वमिदं विभाति**' अर्थात् उसीके प्रकाशसे सब जगत् प्रकाशित है। यदि वह कोई वस्तु न होता तो उसमें प्रकाश कैसे स्थित होता? यदि प्रकाश स्थित होता है तो वह अवश्य किसी-न-किसी आकारमें स्थित होगा, चाहे वह चक्षु, वाणी, मन इत्यादिका विषय नहीं होनेसे अरूप कहा जाय, परंतु वास्तवमें वह किसी-न-किसी रूपमें अवश्य है। प्रकाशका अनुभव करना और प्रकाशकको न जानना भूल है।

नोट—उपनिषदोंमें छः हेय-गुणरहित होनेके कारण ब्रह्मको अगुण, निर्गुण आदि कहा गया है और दो दिव्य गुण विशिष्ट होनेसे सगुण कहा गया है। इन्हीं आठ गुणोंके भीतर सम्पूर्ण हेय और उपादेय गुणोंका समावेश हो जाता है। यथा— '**य आत्मापहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः।**' (छां० ८। ७। १) अर्थात् जो आत्मा पापशून्य, जरारहित, मृत्युहीन, विशोक, क्षुधारहित, पिपासारहित, सत्यकाम और सत्यसंकल्प है। पाप, जरा, मृत्यु, शोक, क्षुधा और पिपासा—ये छः हेय गुण हैं इनसे रहित हैं। सत्यकाम और सत्यसंकल्प ये दिव्य गुण हैं। इन दोनोंसे युक्त हैं।

मानसकल्लोलिनी—१ सद्गुणसंयुक्त होनेसे सगुण और गुणोंसे परे होनेसे निर्गुण है। पुनः, गुणोंके वश नहीं है। जैसे वायु जब गंधमें गया तब गंधयुक्त कहलाया, पर तत्त्वतः वह गंधसे पृथक् है। वैसे ही, हे श्रीरामचन्द्र! आप सगुण और निर्गुणसे परे तीसरे हो। जब सद्गुणोंको धारण करते हो तब सगुण और

---

* जो गुणरहित सो सगुण कैसे? अतः 'सगुण-निर्गुण' में 'विरोधाभास' है। रूप दो बार दो अर्थमें आया है—रूपवाले और रूप। इसमें यमक अलङ्कार है। (वीर)

गुणोंका त्याग करते हो तब निर्गुण कहलाते हो] परंतु आप सबसे परे हो जैसे कमल जलमें बसता है, सब देखते हैं कि वह जलमें है पर वास्तवमें उसमें जल नहीं ठहरता, यद्यपि उसके ऊपर-नीचे सर्वत्र जल-ही-जल है। ऐसे ही सगुण और निर्गुण ब्रह्म है।

२—सगुण कहकर तब निर्गुण कहनेका कारण यह है कि बिना ग्रहणके त्याग नहीं होता, अर्थात् जबतक गुणका ग्रहण नहीं करेगा तबतक त्यागेगा क्या, जिससे निर्गुण कहलायेगा! मूलमें सगुण और निर्गुण दो रूप कहे हैं। इन दोनोंसे भिन्न तीसरा वास्तविक रूप परमात्मा श्रीरामचन्द्रका है जो साकेतमें निवास करता है।

३—परतमरूप उपमायोग्य न होनेसे वेदने सगुण और निर्गुण दोनों रूपोंके लक्षणोंसे तीसरे परतम स्वरूपको लक्षित किया और इसीसे दोनोंको श्रीरामचन्द्रका रूप कहा है।

४—'भूपशिरोमणि'। रावण पृथ्वीका रोगरूप था। इस रोगका कोई नाश न कर सका। आपने उसका वध कर रोग हटाया, तब राज्य स्वीकार किया। अतः आप भूपशिरोमणि हैं।

वि० टी०—उपमारहित भूपशिरोमणि कहनेका कारण यह है कि—(क) अपने उत्तम आचरणोंसे प्रजाको सब प्रकार सुखी रखनेके निमित्त अपने ऊपर अनेक संकटोंके आ जानेका विचार न किया और, (ख)—ऐसे आदर्शरूप आचरण, प्रताप, बल, दया, क्षमा आदिके उदाहरण दिखाये हैं कि जिनका अनुकरण करनेसे मनुष्य सदाचारी बन सकते हैं।

पं० रा० कु०—'भूपशिरोमणि' कहा क्योंकि वेद आगे श्रीरामजीके चरणोंमें अनुराग माँगना चाहते हैं, यथा—'***करुनायतन प्रभु सदगुनाकर देव यह बर मागहीं। मन बचन कर्म बिकार तजि तव चरन हम अनुरागहीं॥***' राजा ही गरीबोंका मनोरथ पूर्ण करते हैं। इसी प्रकार श्रीशिवजी श्रीरामजीको 'महिपाल' कहकर वर माँगते हैं, यथा—'**रघुनंद निकंदय द्वंद्वघनं। महिपाल बिलोकय दीन जनं।**' इत्यादि।

२—(क) '***दसकंधरादि*****……**' इति। प्रथम '***जय सगुन निर्गुन***' कहा अर्थात् आप निर्गुणसे सगुण हुए। किस निमित्त सगुण हुए, सो अब कहते हैं कि '***दसकंधरादि*****……**'। 'दशकंधर' का भाव कि उसे अपने दस सिर और बीस भुजाका अभिमान था। यथा—'***मम भुज सागर बल जल पूरा। जहँ बूड़े बहु सुर नर सूरा॥ बीस पयोधि अगाध अपारा। को अस सूर जो पाइहि पारा।***' (६। २८) (ख)—राक्षसोंको प्रचंड, प्रबल और खल विशेषण देनेका भाव यह है कि वे अपने शरीरके बलसे प्रचण्ड थे, मायाके बलसे प्रबल थे और 'खलों' के जो लक्षण ग्रन्थमें कई स्थलोंपर कहे हैं वे सब लक्षण उनमें थे। खलवधके लिये भगवान्‌का अवतार है, यथा—'***प्रगटेउ जहँ रघुपति ससि चारू। बिस्व सुखद खल कमल तुषारू॥***' (१। १६। ५) (ग)—'***भुजबल हने***' का भाव कि राक्षसोंको लड़नेका अभिमान था, यथा—'***रनमदमत्त फिरइ जग धावा। प्रतिभट खोजत कतहुँ न पावा।***' (१। १८२) इसीसे आपने उनसे संग्राम करके अपने भुजबलसे उनके अभिमानको चूर्ण करके उनको मारा।

पं०—विष्णु आदि सगुण रूप हैं, सर्वव्यापक निर्गुणरूप हैं। द्विभुजरूप दोनोंसे उत्तम है।

पां०—काव्यके नवों रस इस ग्रन्थमें हैं पर उनमेंसे शृङ्गार, वीर और करुणा—ये प्रधान हैं। इनमेंसे भी कोई शृङ्गारको, कोई वीरको और कोई करुणरसको प्रधान कहते हैं। इस ग्रंथका मूल कारण है—'***हरिहउँ सकल भूमि गरुआई***' 'वीररसप्रधान' के प्रतिपादक कहते हैं कि यह चौपाई वीररसमय है, अतः ग्रन्थ वीररसप्रधान है। शृङ्गारवालोंका कथन है कि भगवान्‌ने जब यह प्रतिज्ञा की तब वे शृङ्गाररूप धारण किये थे, रूप पहले था प्रतिज्ञा पीछे हुई, अतः शृङ्गाररसप्रधान है। करुणावाले कहते हैं कि भगवान्‌ने करुणाके कारण वीररसकी प्रतिज्ञा की; अतः करुणरसप्रधान है।—इसमें सबसे अधिक प्रमाण वेदका है। वेद स्तुतिमें कहते हैं, '*जय सगुन निर्गुन रूप*……*।*' इस प्रमाणको लेकर शृङ्गारवाले कहते हैं कि शृङ्गारका प्रथम वर्णन है अतः शृङ्गारप्रधान हुआ, वीरवाले कहते हैं कि जो प्रधान होता है वह बीचमें रहता है और इस छन्दमें वीररस बीचमें होनेसे प्रधान हुआ और करुणाके पक्षपाती कहते हैं कि सिद्धान्त अन्तमें कहा जाता है और इस छन्दमें करुणरस अन्तमें कहा गया है अतः वही प्रधान है।

अवतार नर संसार भार बिभंजि दारुन दुख दहे।
जय प्रनतपाल दयाल प्रभु संजुक्त सक्ति नमामहे॥ १॥

अर्थ—मनुष्य अवतार लेकर संसारके भारको नष्ट करके किसी प्रकार न छूटने योग्य कठिन दुःखोंको आपने भस्म कर दिया। हे शरणागतोंके पालन करनेवाले! हे दयालु! हे प्रभो! आपकी जय! शक्तिसहित आपको मैं नमस्कार करता हूँ॥ १॥

टिप्पणी—१ (क) प्रथम कहा कि दशकन्धरादिको आपने मारा। पर दशकन्धरकी मृत्यु नरके हाथ थी, यथा—*'हम काहू के मरहिं न मारे। बानर मनुज जाति दुइ बारे॥'* (बा०), *'नर के कर आपन बध बाँची। हँसेउँ जानि बिधि गिरा असाँची॥'* (६। २९। २) इसीसे आपने मनुष्य-अवतार लिया—*'अवतार नर।'* (ख) *'दारुन दुख',* यही बात देवताओंने स्वयं श्रीरामजीसे कही थी, यथा—*'इहाँ देवतन्ह अस्तुति कीन्ही। दारुन बिपति हमहिं एहि दीन्ही।'* (६। ८५। ६) *दारुन दुख दहे'* कहनेका भाव कि राक्षस सबको मारा करते थे, इसीसे श्रीरामजीने उनको मारा, उनका दिया हुआ दुःख सबको जलाता रहा है, इसीसे दुःखको भस्म किया।

२ *'जय प्रनतपाल·········'* इति। रावणादिको मारकर शरणागत विभीषणका पालन किया और प्रणतमात्र जो संसारमें हैं उनका पालन करते हैं। तात्पर्य कि संसारका दुःख दूर करते हैं। पुनः अपने प्रणतका कृपा करके पालन करते हैं, यथा—*'जगपालक बिसेषि जनत्राता।'*

३ *'संजुक्त सक्ति नमामहे।'* शक्तिसंयुक्त नमस्कार करनेका भाव कि—(क) श्रीरामजी और श्रीजानकीजी दोनों एक साथ सिंहासनपर बैठे हुए हैं, केवल श्रीरामजीको नमस्कार करनेसे शक्तिका अनादर होता है। (ख) श्रीरामजी तथा श्रीजानकीजी दोनोंने मिलकर पृथ्वीका भार उतारा है। इसीसे दोनोंको नमस्कार करते हैं।—[नोट—भूभारहरणमें श्रीसीताजी ही मुख्य कारण हैं—**'सीतायाश्चरितं महत्'**, यह वाल्मीकिजीने यथार्थ ही कहा है। न वे होतीं न रामायणकी यह कथा होती। श्रीसीताजी परमशक्ति हैं, यथा—*'परम सक्ति समेत अवतरिहउँ', 'आदिसक्ति जेहि जग उपजाया। सोउ अवतरिहि·········।'*] (ग) ऐश्वर्यभावसे स्तुति करते हैं, इसीसे श्रीसीताजीको शक्ति कहते हैं।

मानसकल्लोलिनी—यह स्तुति सामवेदने की। *'नमामहे'* एकवचन है।

नोट—इस वेदस्तुतिमें टीकाकारोंका मत है कि चारों वेदोंने पृथक्-पृथक् स्तुति की है। कहाँतक और कौन किस वेदकी स्तुति है, इसमें मतभेद है। किस कारणसे अमुक स्तुति अमुक वेदकी कही जाती है, इसपर परिचर्याने कुछ प्रकाश डाला है और प्रायः सब चुप हैं। श्री पं० रा० व० श० जी महाराजका मत यह है कि यह नहीं कहा जा सकता कि अमुक ही लक्षण है, अतः यह कहना कि अमुक वेदकी स्तुति अमुक पदमें है कल्पनामात्र है।

स्तुति	वेद	किसका मत	कारण
१ *'जय सगुन'* से	साम	मा० क०, रा० प०, वै०	उपासनाप्रधान
'संजुक्त सक्ति नमामहे' तक	ऋक्	करु०	
२ *'तव बिषम माया'* से	ऋक्	मा० क०, रा० प०, वै०	मायावाद
'राम नमामहे' तक			योगज्ञानप्रधान
३ *'जे ज्ञान मान'* से	,,	रा० प०	
'सो स्मरामहे' तक	यजुः	मा० क०, वै०	
४ *'जे चरन'* से	यजुः	रा० प०, वै०	कर्म स्थापित करते, २—
'नित्य भजामहे' तक	अथर्वण	मा० क०	पररूप दिखाते
५ *'अव्यक्तमूल.......नमामहे'*	अथर्वण	मा० क०, रा० प०, वै०	

वै०—अथर्वण पूर्वार्द्धमें अभिचारादि लोकव्यवहार विशेष है। इसी मतके अनुसार प्रथम संसारवृक्ष-रूपसे कहा। और उत्तरार्द्धमें रामतापनी आदि रामतत्त्व-वर्णन है, इस मतके अनुसार *'जे ब्रह्म अज'*......' इस प्रकार स्तुति करते हैं।

गौड़जी—वेद वन्दीजनके रूपमें आये हैं। चार मूर्त्तियाँ हैं। यह आवश्यक नहीं कि चारों अलग-अलग गुणगान करें। राजाके सामने सौन्दर्यपूर्वक गुणगान करनेकी विधियोंमें अनेक भेद हो सकते हैं। अलग-अलग गुणगान करके कुछ पद एक साथ गाये जा सकते हैं, अथवा प्रत्येक छन्दके तीन-तीन चरण बारी-बारीसे एक-एक वन्दी गा सकता है और चौथा चरण सब मिलकर गा सकते हैं, जिसमें सभामें गान करनेकी शोभा है। वेदोंमें आपसमें गुणानुवादके सम्बन्धमें कोई मतभेद तो है ही नहीं। अतः सबने मिलकर सभी पद एक साथ गाये हों, तो कोई असङ्गति नहीं होती। हरिगीतिकाओंकी संख्या चार होती तो निर्विवाद एक-एक हरिगीतिका एक-एक वेदसे निर्गत समझी जाती। पाँच होतीं तो पाँचवींका एक स्वर वा Chorus समझा जाता, परंतु छः होनेसे यह स्पष्ट है कि एक वेदके मुखमें एक छन्द नहीं दिया जा सकता। अतः छन्दोंका वेदोंके अनुसार विभाग करना कल्पनामात्र है। यह चारों वन्दीजनोंने रामराज्यके दरबारमें उत्तमोत्तम विधानसे गाया होगा, इसमें कोई सन्देह नहीं। इस छन्दका वृत्तचयन भी मानसकारने बड़ी खूबीसे किया है। इसका नाम *'हरिगीतिका'* है अर्थात् भगवान्‌का गुणगान; और यह गुणगान किया है वेदोंने, जो हैं चार और हरिगीतिकाको चार बार कहनेसे हरिगीतिकाका एक चरण बन जाता है। यदि कहा जाय कि एक वचन होनेके कारण एक ही वेदने एक बार कहा है तो उसका समाधान यह है कि मत्स्यपुराणानुसार त्रेतायुगमें वेद एक ही था और वह था यजुर्वेद। यजुर्वेदमें ही शेष तीनोंका समावेश था। यद्यपि नित्यरूपसे वेदकी चार संहिताएँ हैं। अतः चार मूर्त्तियोंसे चारों संहिताओंका निर्वाह होता है और एकवचनके प्रयोगसे उस युगकी चालके अनुसार एक वेदत्वका भी प्रतिपादन होता है।

वि० त्रि०—इसमें छः हरिगीति छन्द हैं। *नमामहे, स्मरामहे, भजामहे, हम अनुरागहीं* आदि बहुवचनसूचक क्रियाएँ प्रत्येक छन्दके अन्तमें आयी हैं, अतः स्पष्ट है कि चारों वेद मिलकर स्तुति करते हैं; और स्थानोंमें भी मिलकर स्तुति करनेका प्रसङ्ग देखा जाता है। यथा रावणवधोपरान्त देवताओंकी मिलकर स्तुति है (यथा—*'आये देव सदा स्वारथी। बचन कहहिं जनु परमारथी'*)। वेद चार हैं, और छन्द यहाँ छः हैं, इस भाँति भी कोई हिसाब नहीं बैठता है। इस स्तुतिको निविष्ट चित्तसे देखा जाय तो इसके छहों छन्दोंमें क्रमशः षड्विधा शरणागतिके भाव लक्ष्य होते हैं। अतः निर्गलितार्थ यह निकलता है कि चारों वेद शरणागतिकी प्रार्थना करते हैं, और इस विषयमें इनका ऐक्यमत्य है।

छंद—तव बिषम माया बस सुरासुर नाग नर अगजग हरे।
भवपंथ भ्रमत अमित* दिवस निसि काल कर्म गुननि भरे॥

अर्थ—हे हरे! आपकी कठिन दुस्तर त्रिगुणात्मिका मायाके वश सुर, असुर, नाग, नर, चर और अचर काल, कर्म और गुणोंसे भरे हुए (अर्थात् इनसे प्रेरित) अगणित दिन-रात भवमार्गमें चक्कर खा रहे हैं।

नोट—१ (क) *'तव बिषम माया'*......' इति। (क) यहाँ मायाको प्रभुकी वस्तु कहा। हरिगीतिकाके इन दो चरणोंमें मायाका स्वरूप और उसका कार्य कहा, अगले चरणोंमें मायासे निस्तारका उपाय कहते हैं। यह माया सत्त्व, रज और तमोमयी है। लीलाके लिये प्रवृत्त परमदेव श्रीरामजीके द्वारा निर्मित है। प्रभुद्वारा निर्मित होनेसे ही यह परम दुस्तर है, इसका पार करना नितान्त ही कठिन है। इसीसे इसे *'तव बिषम माया'* कहा। गीतामें भी ऐसा ही कहा है। यथा—'**दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।**' (७। १४) और मानसमें अनेक बार कहा है। यथा—*'बहुरि राममायहि सिरु नावा। प्रेरि सतिहि जेहि झूठ कहावा।'* (१। ५६। ५) *'प्रभु माया बलवंत भवानी। जाहि न मोह कवन अस*

* भ्रमित श्रमित—(मा० म०) भ्रमत श्रमित—(का०, १८१७; १८१८, १८४२)।

ज्ञानी॥' (७। ६२) इत्यादि। पुनः, (ख) *'बिषम'* शब्द तीनका बोधक है। इस तरह *'बिषम माया'* कहकर जनाया कि यह त्रिगुणात्मिका है। गीतामें भी इसे 'गुणमयी' कहा है। सत्त्व, रज और तम तीनों गुणोंकी साम्यावस्थाको माया (प्रकृति) कहते हैं। यथा—योगशास्त्रे **'सत्त्वरजस्तमसां साम्यवस्था प्रकृतिः।'** इत्यादि (मानसकल्लोलिनी)। असुरों, राक्षसों और अस्त्रादिकी भाँति विचित्र कार्य करनेवाली होनेके कारण इसका नाम माया है। भगवान्‌के स्वरूपको छिपा देना और अपने स्वरूपमें भोग्यबुद्धि करा देना, इस मायाका कार्य है। इसी भावसे *'माया बस सुरासुर नाग……'* कहा। भाव कि इसने सबोंको मोहित करके असीम अतिशय आनन्दस्वरूप आपको भुलाकर विषयभोगोंमें लगा दिया।

टिप्पणी—१ (क) *'तव बिषम माया'* का भाव कि बिना आपकी कृपाके और किसी प्रकारसे यह छूटने योग्य नहीं है। (ख) *'सुरासुर नाग नर अगजग'* कहकर तीनों लोकोंके जीवोंको मायावश जनाया। सुरसे स्वर्ग, असुरसे पाताल और अगजगसे मृत्युलोक सूचित किया। [सुर-असुर सब मायाके वश हैं। देवता वशमें हैं, यथा—*'भव प्रबाह संतत हम परे।'* रावण असुरने मायावश सदुपदेश न माना। इसके अन्तर्गत *'हरिमायाबस जगत भ्रमाहीं', 'प्रभुमाया बलवंत भवानी',* इन दोनों वचनोंका उत्तर है, (मानसकल्लोलिनी)] (ग) आपकी मायाके वश हैं, इस कथनका आशय यह है कि आपने बाहरके दुःखदाताओंको मारकर संसारको सुखी किया, अब अन्तःकरण-(भीतर-) के दुःखदाताओंको गिनाता हूँ, सुनिये और कृपा करके इनसे भी रक्षा कीजिये। वे ये हैं—माया और मायाका परिवार काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर आदि। ये रावणादि राक्षसोंसे भी अत्यन्त प्रबल हैं और केवल आपकी कृपादृष्टिसे छूटते हैं (जैसा कि वेद आगे स्वयं कह रहे हैं—*'जे नाथ करि करुना बिलोके त्रिबिध दुख ते निर्बहे'*)।

२—*'भवपंथ भ्रमत……'* इति। (क) मायावश यह जीव भवपंथमें भ्रमण करता है। ८४ लक्ष योनियोंमें भ्रमण करना यही भवपंथका भ्रमण है, यथा—*'आकर चारि लच्छ चौरासी। जोनि भ्रमत यह जिव अबिनासी॥ फिरत सदा माया कर प्रेरा। काल कर्म सुभाव गुन घेरा॥'* (४४। ४-५) (ख) *'दिवस निसि'* का भाव कि जो दिनभर पंथ चलता है वह रात्रिमें विश्राम करता है, पर यहाँ यह बात नहीं है, यहाँ विश्राम कहाँ? माया दिन-रात भवपंथमें भ्रमाती रहती है। 'अमित' दिवस निशि कहा क्योंकि यह भवपंथ-भ्रमण अनादिकालसे चला आ रहा है, कबसे चल रहा है कोई इसका पता नहीं पा सका।

३—*'काल कर्म गुननि भरे'* इति। (क)—प्रथम मायाको कहकर अब काल, कर्म और गुणको कहनेका तात्पर्य यह है कि ये सब जीवको भवपंथमें चक्कर खिलाते हैं। सब जीव काल, कर्म और गुणोंसे भरे हैं।—*'दिवस निसि'* यह काल है, *'भवपंथ भ्रमत'* यह कर्मफल है और मायाद्वारा प्रेरित होनेसे गुण कहा; क्योंकि माया त्रिगुणात्मिका है। (ख)—प्रथम काल, कर्म, गुण ये तीन कहकर आगे इन तीनोंका किया हुआ दुःख कहते हैं कि *'त्रिबिध दुख……।'*

खर्रा—*'काल कर्म गुननि भरे।'* कर्मानुरोधसे कालमें ज्योतिषरीति जन्म और कालके अनुरोधसे त्रिगुण आक्रान्त हृदय होकर संसारहीमें पड़े रहते हैं। [प्र० सं० के इस लेखको सि० ति० ने इस प्रकार समझाया है कि जो मनुष्य जिस कालमें जन्म लेता है, तदनुसार ज्योतिष-मतसे उसका स्वभावज कर्म नियत हो जाता है, जो कुण्डलीद्वारा प्रकट किया जाता है, फिर कालानुसार ही आयुपर पहुँचकर विद्याध्ययनादि कर्म करता है, फिर वैसे ही गुण प्राप्त करता है। पुनः गुणानुसार कर्म होते हैं और कर्मानुसार ही दूसरे जन्मका काल (दुर्दिन, सुदिन आदि) बनता है। इत्यादि रीतिसे इनके चक्करमें जीव भ्रमण करता रहता है।]

जे नाथ करि करुना बिलोके त्रिबिध दुख ते निर्बहे।
भव खेद छेदन दक्ष हम कहुँ रक्ष राम नमामहे॥ २॥

अर्थ—हे नाथ! जिन जीवोंको आपने करुणा करके देखा उनका तीनों प्रकारके दुःखोंसे निर्वाह हो गया (अर्थात् वे तीनोंसे छुटकारा पा गये, तीनों दुःख छूट गये)। संसार-दुःखके नष्ट करनेमें कुशल, हे राम! हमारी रक्षा कीजिये, हम आपको नमस्कार करते हैं॥ २॥

नोट—*'जे नाथ करि करुना बिलोके………'* इति। यह प्रभुकी विषम मायासे छूटनेका उपाय कहा। जिसपर आप करुणा करके कृपादृष्टि डालें वही बचता है। 'नाथ' शब्दसे जनाया कि आपके अतिरिक्त और किसीके छुटाये यह माया नहीं छूट सकती, क्योंकि और सब देव तो स्वयं ही मायाके वशमें हैं तब वे दूसरेको कैसे छुड़ा सकते हैं। पुनः भाव कि जीव अनाथ पड़ा हुआ है। जब आप उसपर कृपा करके उसके नाथ बनें, उसे सनाथ करें तब वह छूटे। 'नाथ' से यह भी जनाया कि उस मायाके नाथ भी आप ही हैं, यथा—*'माया नाथ अति कौतुक करयो।'* (३। २०) *'सुर नर मुनि कोउ नाहिं जेहि न मोह माया प्रबल। अस बिचारि मन माहिं भजिअ महामायापतिहि।'* (१। १४०) वह आपकी दासी है, अतः जब करुणा करके देखें तभी छूट सकती है। यथा—*'सो दासी रघुबीर कै समुझे मिथ्या सोपि। छूट न राम कृपा बिनु नाथ कहउँ पद रोपि॥'* (७१) *'करि करुना बिलोके'* से जनाया कि जब प्रभु कृपा करते हैं तब जीवके हृदयमें आपकी ओर झुकाव होता है, उसे संत मिलते हैं, जो उसे आपके गुण सुनाकर आपके सम्मुख करते हैं, वह शरणमें आता है, तब उसके दुःख दूर होते हैं। यहाँ स्पष्ट कर दिया कि जीवपर आपकी जब अहैतुकी कृपा होती है तभी वह भजन करता है। कृपा प्रथम होती है। यही बात पुरजनोपदेशमें प्रभुने कही है। यथा—*'आकर चारि लच्छ चौरासी। जोनि भ्रमत यह जिव अबिनासी॥………कबहुँक करि करुना नर देही। देत ईस बिनु हेतु सनेही।'* (४४। ४-६। १। ८। १-२) देखिये। पुनः, *'करि करुना………'* का भाव कि सामान्यतः तो सभी जीवोंपर आपकी दया है ही, यथा—*'अखिल बिस्व यह मोर उपाया। सब पर मोहिं बराबरि दाया।'* (८७। ७) पर उस दयासे काम नहीं चलता। जब आप करुणा करके कृपादृष्टि डालें तभी जीवका निस्तार सम्भव है अन्यथा नहीं। जब उसपर करुणा आती है तभी आप उसके दुःखको दूर करनेके लिये स्वयं आतुर हो जाते हैं, उसपर कृपादृष्टि डालकर उसे अपनी ओर खींचते हैं। बस तभी उसका भवबन्धन छूट जाता है। वह मायाके चक्करसे बच जाता है।

गीतामें भी कहा है **'मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते।'** (७। १४) भाव यह है कि जो लोग सबको शरण देनेवाले मुझ परमेश्वरकी शरण ग्रहण कर लेते हैं वे इस दुस्तर मायासे तर जाते हैं। यहाँके वेद-वाक्यसे मिलान करनेसे देख पड़ेगा कि गीताके वाक्यसे ये वाक्य कितने गम्भीर हैं। वेद बताते हैं कि वे शरण भला कब जाने लगे, जब आप स्वयं अपनी ओरसे प्रथम करुणा करके उनपर कृपादृष्टि डालते तभी वे आपके सम्मुख होते हैं, अपनेसे तो वे कदापि आपके शरण जा ही नहीं सकते। विनयमें भी कहा है कि *'जानकीस की कृपा जगावती सुजान जीव।'* वेदोंने मूलतत्त्व बताया है। करुणा, कृपा कारण है, शरणागति कार्य है। प्रभुकी करुणा ही मुख्य है, मायासे तरनेका प्रधान कारण है, शरणागति गौण कारण है।

टिप्पणी—(क) *'त्रिबिध दुख'* इति। जन्म, जरा और मरण अथवा आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक अथवा, काल-कर्म-स्वभावगुणकृत दुःख त्रिविध दुःख हैं, यथा—*'काल-कर्म-सुभाव-गुनकृत दुख काहुहि नाहिं।'* (२१) (ख)—*'भवखेदछेदनदक्ष हम कहँ रक्ष'* इति। भाव कि रावणादिको मारकर हमारी रक्षा की, हमारे रक्षक आप ही हैं, यथा—*'असुर मारि थापहिं सुरन्ह राखहिं निज श्रुति सेतु।'* (१। १२१) *'श्रुतिसेतुपालक राम तुम्ह जगदीस।'* (अ० १२६) आपकी कृपादृष्टिसे भवदुःख दूर होता है, कृपादृष्टिसे देखकर हमारी रक्षा कीजिये।

पां०—१ यहाँ शंका होती है कि 'वेद दुःखी तो संसारको कह रहे हैं और रक्षा अपनी माँगते हैं!' इसका समाधान यह है कि वेद जगत्के गुरु हैं, वे अपनी रक्षाके मिष जगत्की रक्षा माँगते हैं। अथवा, २—दूसरी प्रकार अर्थ यह करें कि वेद कहते हैं कि हम जगन्मात्रसे ऐसा कहते हैं कि प्रभुकी कृपादृष्टिसे त्रिविध दुःख और भवखेद नष्ट होते हैं, इस हमारी वाणीकी आप रक्षा करें, इसे सत्य करें।

छं०—जे ज्ञान मान बिमत्त तव भवहरनि भक्ति न आदरी।
ते पाइ सुरदुर्लभ पदादपि परत हम देखत हरी॥

बिस्वास करि सब आस परिहरि दास तव जे होइ रहे।
जपि नाम तव बिनु श्रम तरहिं भव नाथ सो स्मरामहे*॥ ३॥

अर्थ—जिन्होंने ज्ञानके अभिमानसे विशेष मतवाले होकर आपकी आवागमन छुड़ानेवाली भक्तिका आदर न किया, हे हरि! वे देवताओंको भी कठिनतासे प्राप्त होनेवाले पदको भी पाकर उस पदसे (फिर संसारमें वा नीचे) गिर पड़ते हैं, यह हम देखते हैं (अर्थात् यह हमारी देखी हुई बात है) एवं वे हमको देखते रहते हैं तो भी भवमें पड़ते हैं। जो सब (ज्ञानादि एवं अपने पुरुषार्थका) आशा-भरोसा छोड़कर विश्वास करके आपके दास होकर रह गये, हे नाथ! वे आपका नाम जपकर बिना परिश्रम ही भवपार हो जाते हैं, उन आप स्वामी [वा, भव (शंकर एवं संसार)-के स्वामी]-को मैं स्मरण करता हूँ॥ ३॥

टिप्पणी—*'जे ज्ञान मान बिमत्त·········'* इति। (क) ज्ञानका बाधक मान है। यथा—*'मान ते ज्ञान पान ते लाजा'*—(आ०)। मानसे मतवाले हुए, इसीसे भक्तिका आदर न किया। *'ज्ञान मान बिमत्त'* का दूसरा अर्थ यह भी है कि जो ज्ञान और मान दोनोंमें मत्त हैं। भाव कि वे ज्ञानी नहीं हो सकते हैं क्योंकि जहाँ ज्ञान रहता है, वहाँ मान नहीं रहता। वे यथार्थ ज्ञानी होते तो उन्हें उसका अभिमान न होता। (मानसकल्लोलिनी) पुनः, *'ज्ञान मान बिमत्त'* कहनेमें भाव यह है कि ज्ञान सब प्रकार निरञ्जन है, उत्तम है, यथा—**'नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते'** (गीता), *'नहिं कछु दुर्लभ ज्ञान समाना।'* इसीसे ज्ञान होनेपर मत्त हो जाते हैं। पर बिना भक्तिके ऐसे ज्ञानकी भी शोभा नहीं। यथा—**'नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितं न शोभते ज्ञानमलं निरञ्जनम्। कुतः पुनः शश्वदभद्रमीश्वरे न चार्पितं कर्म यदप्यकारणम्॥'** (भा० १। ५। १२) अर्थात् उपाधिको निवृत्त करनेवाला अमल निरञ्जन निष्कर्म ब्रह्मज्ञान भी अच्युतभगवान्‌की भक्तिसे रहित हो तो वह भी शोभा नहीं देता, तब निरन्तर अकल्याणरूप अकाम्यकर्म भी जो ईश्वरार्पित नहीं हुए वे कब शोभायमान हो सकते हैं। (पं० रा० व० श०) (ख) भक्तिको *'भवहरनि'* विशेषण देनेका भाव कि केवल ज्ञान भवका हरनेवाला नहीं है, भक्ति भवकी हरनेवाली है।

नोट—१ *'भवहरनि भक्ति न आदरी।'* श्रीमद्भागवतमें ऐसोंके विषयमें कहा है कि वे कल्याणकी खानि भक्तिको त्यागकर क्लेशमात्रके भंडार ज्ञानमें पड़े हैं। भक्ति छोड़ केवल ज्ञानमें परिश्रम करनेवालेको परिश्रममात्र ही फल हाथ लगता है। जैसे भूसी कूटनेवालेके हाथ फल नहीं, किंतु फफोला हाथ लगता है। यथा—**'श्रेयःश्रुतिं भक्तिमुदस्य ते विभो क्लिश्यन्ति ये केवलबोधलब्धये। तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते नान्यद्यथा स्थूलतुषावघातिनाम्॥'** (१०। १४। ४) *'सुनु खगेस हरिभगति बिहाई। जे सुख चाहहिं आन उपाई॥ ते सठ महा सिंधु बिनु तरनी। पैरि पार चाहहिं जड़ करनी॥'*

टिप्पणी—(क) *'सुरदुर्लभ पद'*† अर्थात् परमपद। यह देवताओंको दुर्लभ है, यथा—*'अति दुर्लभ कैवल्य परमपद। संत-पुरान-निगम-आगम बद॥'* (ख) *'हम देखत हरी'* अर्थात् हम इस बातके साक्षी हैं। [खर्रा—*'हम देखत'* का भाव कि हम और शास्त्रोंकी तरह अनुमानसे नहीं कहते हैं, हम शब्दब्रह्म हैं, हमारी सर्वत्र निरावरण दृष्टि है, हम सर्वत्र निरावरण व्यापक हैं। अतः आँखों-देखी कहते हैं। *'हम देखत'* दीपदेहरी है। ज्ञानमत्तको गिरते और नामजापकको विना प्रयास तरते देखते हैं। पदादपि=पदात् अपि=पदसे भी]

☞ मिलान कीजिये—**'येऽन्येऽरविन्दाक्ष विमुक्तमानिनस्त्वय्यस्तभावादविशुद्धबुद्धयः। आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततः पतन्त्यधोऽनादृतयुष्मदङ्घ्रयः॥ तथा न ते माधव तावकाः क्वचिद् भ्रश्यन्ति मार्गात्त्वयि बद्धसौहृदाः। त्वयाऽभिगुप्ता विचरन्ति निर्भया विनायकानीकपमूर्धसु प्रभो॥'** (भा० १०। २। ३२-३३)

---

* मा० म० में 'स्मरामहे' के स्थानपर 'सुमिरामहे' पाठ है, जिसे वे एकवचन कहते हैं।

† १ मा० म० 'सुरदुर्लभपद' से ब्राह्मणपद, रा० प्र० ब्रह्मलोक, वीरकवि, 'मनुष्य देह' अर्थ करते हैं और खर्रामें 'ब्रह्मलोक वा मुक्ति' अर्थ है। २—यहाँ दो-दो चरणोंके भावार्थमें 'प्रथम निदर्शना अलंकार' है (वीर)।

अर्थात् हे कमलनयन! जो दूसरे लोग 'हम मुक्त हैं' ऐसा अभिमान कर आपकी भक्ति नहीं करते, वे अशुद्धबुद्धि आपके चरणारविन्दका अनादर करनेसे अनेक जन्मोंके तपके प्रभावसे परमपदको प्राप्त होकर भी तिर्यगादि नीच योनियोंमें गिरते हैं। हे माधव! जो लोग आपहीमें स्नेह कर आपहीके हो रहे वे लोग मार्गमेंसे कभी भ्रष्ट नहीं होते, बल्कि हे प्रभो! आपके किये हुए रक्षणद्वारा निर्भय होके बड़े-बड़े अनेक विघ्नोंके सिरपर चरण धरकर विचरते हैं।

मानसकल्लोलिनी—१ यह स्तुति यजुर्वेद कर रहे हैं। *'हम देखत'* में भाव यह है कि परमपदसे गिर पड़नेपर वे हमको (वेदोंको) पुनः देखते अर्थात् विचारते हैं तथा हम उनको गिरते हुए देखते हैं। —[इस प्रकार *'हम देखत'* श्लेषार्थी है। पुनः, *'हम देखत'* का भाव यह भी कह सकते हैं कि हमको (वेदोंको) देखते रहते हैं तो भी भक्तिका निरादर करनेसे संसारमें गिरते हैं—यह आपके सम्बन्ध-त्यागका फल उनको मिलता है। (पां०)]

टिप्पणी—३ (क) *'बिस्वास करि.........'* इति। श्रीरामजीमें विश्वास होनेसे आशाका त्याग होता है, यथा—*'प्रभु बिस्वास आस जीती जिन्ह ते सेवक हरि केरे।'* इति। (विनय०) (ख) *'जपि नाम तव.........'* इति। *'बिनु श्रम'* कहनेका भाव कि दास नाम जपकर बिना श्रम तर जाते हैं और ज्ञानी परिश्रम भी करके परमपदसे गिरते हैं। पुनः, *'बिनु श्रम तरहिं'* कथनसे सूचित करते हैं कि नाम लेनेसे भवसमुद्र सूख जाता है, यथा—*'नाम लेत भवसिंधु सुखाहीं।'* इसीसे कुछ श्रम नहीं होता। (ग) *'नाम तव'* का भाव कि तुम्हारा 'राम', यह नाम जपकर बिना श्रम तरते हैं।

छन्द—जे चरन सिव अज पूज्य रज सुभ परसि मुनिपतिनी तरी।
नख निर्गता मुनिबंदिता त्रैलोक पावनि सुरसरी॥
ध्वज कुलिस अंकुस कंज जुत बन फिरत कंटक किन लहे।
पदकंज द्वंद मुकुंद राम रमेस नित्य भजामहे॥ ४॥

शब्दार्थ—**निर्गता**=निकली हुई। **किन**=क्यों न, किन लोगोंने। (सं०) **किण**=चिह्न, दाग, गड्ढा, किसी वस्तुके लगने, चुभने वा रगड़ पहुँचानेका चिह्न।

अर्थ—श्रीशिव और ब्रह्माजीके पूज्य जिन चरणोंकी कल्याणकारी रजको स्पर्श करके गौतम मुनिकी स्त्री अहल्या तर गयी, जिनके नखसे मुनियोंसे वंदित त्रिलोकको पवित्र करनेवाली गङ्गाजी निकलीं और ध्वज, कुलिश, अंकुश और कमल (चिह्नोंसे) युक्त (अर्थात् जिनमें ये राज्यचिह्न हैं) चरणोंसे, आपको छोड़ और किसने कण्टकवनमें फिरकर काँटे प्राप्त किये? अर्थात् आपके सिवा किसी चक्रवर्तीने ऐसे कष्ट नहीं झेले। एवं जिन चरणोंमें वनमें फिरते समय काँटोंसे घाव हो गये थे, उन मुक्तिके दाता (एवं द्वन्द्वसे मुक्ति देनेवाले), दोनों चरणकमलोंको, हे राम! रमापति! हम नित्य भजते रहते हैं॥ ४ ॥

टिप्पणी—१ (क) *'सिव अज पूज्य'* कहकर चरणकी बड़ाई की कि ये सबसे बड़े हैं, उत्पत्ति और संहारके करनेवाले हैं, सो भी इन चरणोंकी पूजा करते हैं। (ख) रजको शुभ कहनेका भाव कि इसके स्पर्शसे सबका कल्याण होता है। *'रज सुभ परसि मुनिपतिनी तरी'* से रजकी बड़ाई की कि अहल्या-ऐसी पातकिनी रज-स्पर्शसे तर गयी, यथा—*'जे परसि मुनि बनिता लही गति रही जो पातकमई।'* (१। ३२४) (ग) *'नख निर्गता......'* कहकर चरणोदककी बड़ाई करते हैं। *'नख निर्गता मुनिबंदिता.......'* से गङ्गाजीकी चारों प्रकारकी उत्तमता दिखाते हैं। श्रीरामजीके नखसे निकली हैं, इससे कुलकी उत्तमता *'मुनिबंदिता'* से स्वरूपकी, *'त्रैलोक पावनि'* से स्वभावकी और *'सुरसरी'* से संगकी उत्तमता (देवताओंका संग) कही। (घ) *'त्रैलोक पावनि'* कहकर सूचित करते हैं कि गङ्गाजी तीनों लोकोंमें गमन करती हैं, इसीसे तीनों लोक पवित्र होते हैं। और उनका नाम त्रिपथगा हुआ। यथा— *'लोकत्रयगामिनी'* (वि० १८), *'ईस सीस बससि त्रिपथ लससि नभ पताल धरनि।'* (वि० २०)

नोट—नखनिर्गता मुनिबंदिता इत्यादिके क्रमका भाव कि नखनिर्गता होनेसे ही सुरसरी देवमुनिसे वन्दिता और त्रैलोक्यपावनी हुईं और इसीसे ब्रह्माने उन्हें कमण्डलुमें और शिवजीने शीशपर रखा (खर्रा)।

मिलान कीजिये—*'जयति जय सुरसरी जगदखिल पाविनी। बिष्नु पदकंज मकरंद इव अंबु बर बहसि दुख दहसि अघबृंद बिद्राविनी। मिलित जलपात्र अज युक्त हरिचरन रज बिरजतरवारि त्रिपुरारि सिर धामिनी॥'* (वि० १८) इसके सब भाव छन्दके पूर्वार्द्धमें हैं।

३ (क) *'ध्वज कुलिस अंकुस……'* इति। भाव कि जिसके चरणोंमें ये चिह्न होते हैं वह पृथ्वीभरका राजा होता है, चक्रवर्ती राजा होता है, उसको वनका विचरना और काँटोंके घावोंका सहना अयोग्य है। आपने वह दुःख भी सहकर सबका दुःख हरण किया और सबको मुक्त किया। किन=घाव। **'व्रणे चिह्ने घुनेकिण इति हारावली।'** [खर्रा—चार चिह्न वर्णनका हेतु कि शरणागतके रक्षणार्थ ध्वजा, उसके शत्रुसंहारार्थ वज्र, भक्तोंके मन आकर्षण करनेको अङ्कुश और अभीष्ट देनेको पद्म है। ऐसे वैभवयुक्तचरणको हम नित्य भजते हैं, यह वेदोंने उपासनाका रहस्य बताया।]

नोट—भागवतमें धरणी-धर्म-संवादमें भी इन्हीं चार चिह्नविशेषोंका उल्लेख है—**'तस्याहमब्जकुलिशाङ्कुशकेतुकेतैः श्रीमत्पदैर्भगवतः समलंकृताङ्गी॥'** (१। १६। ३३)

२—महारामायणमें इन चिह्नोंके लक्षण और माहात्म्य इत्यादि इस प्रकार हैं—**'लोहिता च ध्वजा तस्यां चित्रवर्णाभिधीयते॥'** (७४), **'ध्वजपताकयोर्जातौ नरनारायणावुभौ॥'** (३१), **'ध्वजाविजयो जातो मुकुटाद्दिव्य-भूषणः। यः करोति महाराजं दीनमेव स्वतेजसः॥'** (४८), **'वज्रांकुशाभ्यां समुत्पन्नो नृसिंहो भक्तवत्सलः॥'** (२३), **'वज्राद्वज्रमुत्पन्नं पापपर्वतहानिदम्॥'** (४५), **'वज्रं तडितवज्ज्ञेयं श्वेतरक्तं तथा यवम्॥'** (७३), **'अङ्कुशादङ्गानं संजातं सर्वलोकमलापहम्। प्रापयत्येव सन्मार्गे मत्तमात्तङ्गजं मनः।'** (४७), **'पंकजात्पंकजं जातं विष्णुहस्ते मुदान्वितम्॥'** (४३), **'नभोवदम्बरं ज्ञेयमरुणं पंकजं स्मृतम्॥'** (७२), **'एकैकचिह्नमध्ये तु सद्गुणाः कोटिकोटयः॥'** (६७)

श्रीप्रियादासजीने इन चिह्नोंके माहात्म्य भक्तिरसबोधिनी टीकामें यों कहे हैं—*'मन ही मतंग मतवारो हाथ आवै नाहि ताके लिए अंकुश लै धार्‍यो हिय ध्याइये। ऐसेही कुलिश पर्वतके फोरिबेको भक्तिनिधि जोरिबेको कंज मन ल्याइये। छिनमें सभीत होत कलिकी कुचाल देखि ध्वजा सो विशेष जानो अभयको विश्वास है।'*

इस तरह ये चिह्न शरणागतके विशेष उपयोगी हैं। ध्वज-चिह्न कलिसे अभय देता है, वज्र भक्तके पाप-पहाड़को चूर-चूर कर देता है, अंकुश मनको वश कर देता है और पद्म भक्ति तथा पद्म (जो निधियोंमेंसे एक है) अभीष्ट देता है।

मानसकल्लोलिनी—१ अब अथर्वण वेद पदार्थसंयुक्त श्रीरामचन्द्रजीके कंटकरहित चरणके लक्षण और परत्वको वर्णन करते हैं।

नोट—*'कंटक किन लहे'* के दो-तीन प्रकारके अर्थ टीकाओंमें मिलते हैं। मा० म० और कल्लोलिनी अर्थ करते हैं कि 'कंटक-(वन-) में चलनेपर भी कणामात्र कंटक न लगा' और कहते हैं कि 'यह रामचन्द्रजीका ऐश्वर्य वेद कह रहे हैं। यदि कोई नंगे पैर कठोर पृथ्वीपर रोज चले तो ठेला (=लट्ठा) पड़ जायगा और पैरोंमें बिवाई फट जायँगी परंतु आपके चरण कोमल ही बने रहे, उनमें काँटे न लगे। इसको देखकर हनुमान्‌जीने श्रीरामचन्द्रजीका ऐश्वर्य जाना था जैसा उनके *'कठिन भूमि कोमलपदगामी'* इन वचनोंसे स्पष्ट है।'—दोनोंके मतोंका सारांश यह निकला कि *'किन'* का अर्थ 'नहीं' हुआ। करुणासिंधुजी *'कंटक किन लहे'* के दो प्रकारसे अर्थ करते हैं—(क) 'वे पद वनमें फिरते समय 'कंटकी' अर्थात् तामसी जीव, कुश, कंटक, सर्प, बिच्छू, वनचर कोलभील इत्यादि अनेक जीवोंको प्राप्त हो गये। (ख) जो ब्रह्मादिको दुर्लभ हैं, वे पद भक्तोंके हितार्थ वनमें फिरते हुए कंटकोंसे क्लेशको प्राप्त हुए—यह आपकी कृपालुता है।' इस प्रकार *'कंटक किन'*, एक तो एक शब्द माना गया और उसका अर्थ हुआ 'कंटकियों, कंटकी जीवोंने', दूसरे, *'किन'* का अर्थ 'क्लेश' हुआ। वंदन पाठकजी एवं पं० रामकुमारजीका मत एक है। अर्थात् किन=घाव। आधुनिक बहुत-से टीकाकारोंने करुणासिंधुजीके प्रथम अर्थको ग्रहण किया है।

मेरी समझमें इसके अर्थमें किसी प्रकारके खींचतानकी आवश्यकता नहीं है। *'किन'* का साधारण अर्थ 'किसने' सभी जानते हैं। इस प्रकार यहाँ सरलतासे यह अर्थ हो जाता है कि—'काँटे किसने प्राप्त किये?' अर्थात् आपके अतिरिक्त देवमुनि इत्यादिके लिये वन-वन फिरकर काँटे सहना इत्यादि क्लेश किसीने नहीं उठाये। दूसरे, **'किण'** संस्कृत शब्द है उसके अनुसार भी अर्थ ठीक बैठता है और भा० ९। ११। १९ के अनुकूल है। वहाँ शुकदेवजी कहते हैं कि प्रभुने अपने उन कल्याणकारी चरणोंको भक्तोंके हृदयमें स्थापित किया, जिनमें दण्डकारण्यके काँटे, कंकड़ आदि गड़े थे—'**स्मरतां हृदि विन्यस्य विद्धं दण्डककण्टकैः। स्वपादपल्लवं राम आत्मज्योतिरगात्ततः॥**'—विद्धमें वही भाव है।

पं० रा० व० श०—ये चार प्रशस्त चिह्न हैं। भाव यह है कि जिनके चरणोंकी एक-एक रेखाका इतना माहात्म्य है, वे ही वनमें फिरे हैं। आपके पद मुक्ति देनेवाले हैं, हम उनको नित्य भजते हैं—इस कथनका भाव यह है कि इस संसारके मूल तो आप ही हैं, तब बिना आपके भजनके संसार कैसे छूट सकता है? संसारसे मुक्त करनेवाले कहकर आगे संसारविटपरूप भगवान्‌की वन्दना करते हैं।

टिप्पणी—*'पदकंज द्वंद मुकुंद'''''''* अर्थात् आपके दोनों चरण मुक्तिके दाता हैं। वा, आपके चरणकमल हानि-लाभ, दुःख-सुख, मानापमान, निंदा-स्तुति, जन्म-मरण इत्यादि द्वन्द्वोंके छुड़ानेवाले हैं।

☞जब रूपकी बड़ाई की तब रूपको नमस्कार किया, यथा—*'जय प्रनतपाल दयाल प्रभु संयुक्त सक्ति नमामहे।'* और जब नामकी बड़ाई की तब कहा कि हम आपका नाम जपते हैं, यथा—*'जपि नाम तव बिनु श्रम तरहिं भव नाथ सो स्मरामहे।'* तथा जब चरणकी बड़ाई की तब कहा कि हम आपके चरणोंको भजते हैं, यथा—*'पदकंज द्वंद मुकुंद राम रमेस नित्य भजामहे।'* यहाँतक रामजीका सगुण स्वरूप कहा, आगे विराट्‌रूप वर्णन करते हैं।

खर्रा—**'रमेस'**=अनन्त ब्रह्माण्डकी ऐश्वर्यरूपिणी लक्ष्मीके स्वामी।

मयूख—यहाँतक चारों वेदोंने पृथक्-पृथक् स्तुति की। सामवेदने प्रथम स्तुतिमें यह कथन किया कि रावणके दुःखको प्रथम श्रीरामचन्द्रजीने हरण किया, यथा—*'अवतार नर संसारभार बिभंजि दारुन दुख दहे'* पुनः ऋग्वेदने यह आह्लादपूर्वक कहा कि रावणपर करुणा करके उसे भवदुःखसे निवृत्त किया। यजुर्वेदका कथन है कि ज्ञानसे मत्त रावणको मारकर उसकी उन्मत्तताका नाश किया और अपनेमें विश्वास कराया। अथर्वणवेदका यह कथन है कि आपके कंटककी कठोरताको नाश किया, अब मेरे मनकी कठोरताको हरिये।

छं०—अव्यक्त मूलमनादि तरु त्वच चारि निगमागम भने।
षटकंध साखा पंच बीस अनेक पर्न सुमन घने॥
फल जुगल बिधि कटु मधुर बेलि अकेलि जेहि आस्रित रहे।
पल्लवत फूलत नवल नित संसार बिटप नमामहे॥५॥

अर्थ—वेदशास्त्र कहते हैं कि संसाररूपी वृक्षकी जड़ 'अव्यक्त' (ब्रह्म या माया है, देख नहीं पड़ती) है। यह अनादि-कालसे है, इसमें चार त्वचाएँ (खाल, छिलका, बकला) और छः स्कन्ध (तना) हैं। २५ शाखाएँ, अनेक पत्ते और सघन (बहुत-से) फूल हैं, कड़वे-मीठे दोनों प्रकारके फल लगे हैं। इसपर एक ही बेल है जो इसके आश्रित रहती है। यह नित्य नवीन फूलता और पत्तोंसे युक्त रहता है—ऐसे संसारवृक्ष (रूप आप) को मैं नमस्कार करता हूँ*॥ ५॥

---

* 'संसार बिटप नमामहे' के अर्थ करुणासिंधुजी आदिने यों किये हैं—

१ करु०—(क) श्रीरामचन्द्रजी! हम आपको नमस्कार करते हैं, यह संसार आपकी इच्छाविभूति है। वा (ख) हम आपकी विभूतिहीको नमस्कार करते हैं। वा, (ग)—हम आपकी एकपादविभूतिके सहित आपको नमस्कार करते हैं।

२ मा० क०—(क) ऐसा विस्तारसहित जो आपका स्वरूप विश्वविटप है, सो धन्य है। (ख)—यह संसार प्रभुकी एकपादविभूति है, यथा—'पादोऽस्य विश्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि' इति पुरुषसूक्तः। इसका बीज रेफ वा प्रणव है।

टिप्पणी—१ संसार-विटपका मूल माया है। [श्रीमद्भागवतके विश्वविटपवाले रूपकोंसे भी ब्रह्महीका मूल होना सिद्ध होता है। यथा—'**आत्ममूलम्**', '**अहं हि**''''''**अव्यक्त एको वयसा स आद्यः।**' मानसमें भी अव्यक्तको ही निर्गुण ब्रह्म कहा है, यथा—'***कोउ ब्रह्म निर्गुन ध्याव अव्यक्त जेहि श्रुति गाव।***' (लं० ११२) (इन्द्रकृत स्तुति)। और 'अव्यक्तमूल' ये वचन भी वेद ही कह रहे हैं। अत: यहाँ वेदान्तमत ही लेना चाहिये। श्रुतियाँ भी यही कहती हैं, यथा—'**सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्।**' '**सत्त्वेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्**', '**तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति**' (छां० अ० ६ खण्ड २ मन्त्र १, २, ३) अर्थात् हे सोम्य! आरम्भमें यह एकमात्र अद्वितीय सत् ही था। उस (सत्) ने ईक्षण किया कि 'मैं बहुत हो जाऊँ—अनेक प्रकारसे उत्पन्न होऊँ'। आगे तेज, जल, अन्न आदिकी उत्पत्ति कहकर अन्तमें फिर कहा है कि हे सोम्य! इस प्रकार यह सारी प्रजा सन्मूलक है तथा सत् ही इसका आश्रय है और सत् ही प्रतिष्ठा है। यथा—'**सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः।**' (छां० अ० ६ खण्ड ८ मन्त्र ४ तथा मन्त्र ८) पं० रा० व० श० जी कहते हैं कि सांख्यमतसे प्रकृतिको अव्यक्त कहते हैं और वेदान्तमतसे ब्रह्मको अव्यक्त कहते हैं, क्योंकि उसीको जगत्का कारण माना है।] '***अनादि***' कहनेका भाव कि संसारको भगवान्का रूप कहते हैं, भगवान् अनादि हैं, इसीसे संसारको अनादि कहा। अथवा संसार कबसे है इसे कोई नहीं जानता, अतः अनादि कहा। यथा—'***बिधि प्रपंच अस अचल अनादी।***' (२। २८२। ६) २—'***निगमागम भने।***' प्रश्न—वेद आप ही अपनेको कैसे कहते हैं? उत्तर—वेद यहाँ अपने रूपसे नहीं हैं, बंदीरूपमें हैं, इसीसे निगमागमका कहना कहते हैं।

पं० रा० व० श०—१ (क) पञ्चतत्त्व और मन—ये छः स्कन्ध हैं, प्रत्येक तत्त्वसे पाँच-पाँच प्रकृतियाँ हुईं, ये ही २५ शाखाएँ हैं। (ख) '***पर्ण सुमन***''''''' इति। कर्मवासना पत्ते हैं जो अभी फल देनेवाले नहीं हैं और जो कर्म-फल देनेवाले हैं, वे फूल हैं। भागवतसे दो ही फल मालूम होते हैं किन्तु यहाँ फल बहुत हैं, पर दो ही प्रकारके हैं यह अद्भुतता है।* अनेक प्रकारके सुख-दुःख अनेक प्रकारके फल हैं। दोनोंमें मीठे और कड़वे दोनों हैं (ग) '***बेलि अकेलि***''''''' इति।—समुदाय कर्मजनित वासना बेलि है† अर्थात् आशारूपी बेलि वृक्षभरपर छायी है। बेलि उस विटपके आश्रित है। (घ) '***नवल नित***' इति। भाव कि बहुत दिनका

* 'अयं हि जीवस्त्रिवृदब्जयोनिरव्यक्त एको वयसा स आद्यः।
विश्लिष्टशक्तिर्बहुधेव भाति बीजानि योनिं प्रतिपद्य यद्वत्॥
यस्मिन्निदं प्रोतमशेषमोतं पटो यथा तन्तुवितानसंस्थः।
य एष संसारतरुः पुराणः कर्मात्मकः पुष्पफले प्रसूते॥
द्वे अस्य बीजे शतमूलस्त्रिनालः पञ्चस्कन्धः पञ्चरसप्रसूतिः।
दशैकशाखो द्विसुपर्णनीडस्त्रिवल्कलो द्विफलोऽर्कं प्रविष्टः॥
अदन्ति चैकं फलमस्य गृध्रा ग्रामेचरा एकमरण्यवासाः।
हंसा य एकं बहुरूपमिज्यैर्मायामयं वेद स वेद वेदम्॥ (भा० ११। १२। २०—२३)

भगवान् उद्धवजीसे कह रहे हैं कि मैं आदिमें अव्यक्त एवं एकमात्र था और फिर बीज जैसे खेतको पाकर बढ़ता है, वैसे ही शक्तियोंके विभक्त होनेपर बहुधा प्रतीत होता है। वह त्रिगुणाश्रय और पद्मयोनि अर्थात् ब्रह्माण्डरूपपद्मका कारण है। पटमें सूत्रोंकी भाँति समग्र विश्व इसमें ओतप्रोत भावसे व्याप्त है। यही प्रवृत्तिशील सनातन संसारतरु है। भुक्ति इसका पुष्प है और मुक्ति इसका फल है। पुण्य और पाप—ये दो इसके बीज हैं, अपरिमित वासनाएँ इसकी जड़ें हैं, तीनों गुण इसके प्रकाण्ड हैं, पञ्चभूत इसके स्कंध हैं, शब्दादि पाँच विषय इससे उत्पन्न रस हैं, ग्यारह इन्द्रियाँ इसकी शाखाएँ हैं, जीवात्मा और परमात्मा—ये दोनों पक्षी नीड़ निर्माण कर इसमें अवस्थित हैं, वात-पित्त-श्लेष्मा—ये तीन वल्कल हैं, सुख और दुःख—ये दो इसके परिपक्व फल हैं। इस प्रकारका यह वृक्ष सूर्यमण्डलतक व्याप्त है। कामी गृहस्थ लोग इसके दुःखरूप फलको खाते हैं और वनवासी परमहंस लोग इसके सुखरूप फलको पाते हैं। जो कोई पूज्य गुरुकी सहायतासे एकमात्र निर्गुण परमात्माको इस सगुणरूपसे बहुरूप जानता है, वही वेदके यथार्थ तत्त्वको जानता है।

† 'संसार कांतार अति घोर गंभीर घन गहन तरु कर्म संकुल मुरारी।
वासना बल्लि खरकंटकाकुल विपुल निविड विटपाटबी कठिन भारी॥'—(५९)

होनेसे पदार्थ फीका पड़ जाता है पर इसमें यह बात नहीं, यह नित्य नया वैसा ही सुन्दर बना रहता है। जगत् जैसा-का-तैसा हरा-भरा नित्य देख पड़ता है, यद्यपि न जाने कितने मर गये और छोड़कर चले गये।

सि० ति०—'*फल जुगल*………' इति। इसका तात्पर्य यह है कि ईश्वरकी शरीररूपा प्रकृतिके द्वारा शुभाशुभ कर्म होते हैं, यथा—'**प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः। अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते॥**' (गीता ३। २७) अर्थात् प्रकृतिके गुणोंके द्वारा सब प्रकारके कर्म होते हैं, अज्ञानी अहंकारसे अपनेको कर्ता मान लेते हैं। यथा—'**कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते। पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते॥**' (गीता १३। २०); अर्थात् कार्य (पञ्चतत्त्वों एवं पञ्चविषयों) और करण (मन, बुद्धि, अहंकार तथा १० इन्द्रियों) की उत्पत्तिमें हेतु प्रकृति है और फल भोगनेमें हेतु जीवात्मा है; यथा—'***देखी सुनी न आजु लौं अपनायति ऐसी। करैं सबै सिर मेरियै फिरि परै अनैसी॥***' (वि० १४८), अर्थात् कामादिमें आसक्त होकर मन और इन्द्रियाँ सब कर्म करते हैं, परिणामका दुःख मेरे सिरपर पड़ता है, फिर भी इनका साथ नहीं छूटता ऐसी अपनायत (आत्मीयता) पड़ गयी है। पुनः कर्म-फलके समयका संयोग भी ईश्वर ही करते हैं, यथा—'***सुभ अरु असुभ करम अनुहारी। ईस देइ फल हृदय बिचारी॥***' (अ० दोहा ७७); इन प्रमाणोंसे पत्र और पुष्प भगवान्‌के शरीर-रूप वृक्षमें ही लगना निश्चित हुआ।

फलोंका भोक्तृत्व भी जीवोंमें ही सिद्ध हुआ। तथा—'**द्वा सुपर्णा**………' (मुं० ३। १। १) में भी जीवका ही फल भोक्ता होना स्पष्टरूपसे कहा गया है। यहाँ '*कटु मधुर*' कहकर फल कहा गया है। इसका अनुभव भी भोगनेवाला जीव ही करता है। इससे जीवोंकी ही अविद्यात्मक वासनाद्वारा फल लगना ठीक है, अतः फलमात्र बेलिमें लगना जानना चाहिये। वृक्षमें नहीं; यथा—'**न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।**' (गी० ४। १४); अर्थात् कर्मोंके फलोंमें मेरी स्पृहा नहीं है, इसीसे कर्म मुझे लिप्त नहीं करते; (यह श्रीभगवान्‌ने ही कहा है)।

नोट—यहाँ श्रीरामचन्द्रजीको संसार-विटप कहा है। यहाँ 'साङ्गरूपक' है। इसके जो अंग यहाँ कहे गये हैं इसके स्पष्टीकरणमें बहुत मतभेद है। अतएव नकशा बनाकर उनको यहाँ एकत्र कर दिया गया है, जिसमें एक साथ ही सब महानुभावोंके विचारोंका दर्शन हो जाय और पाठक जिस मतको ठीक समझें ग्रहण करें। वृक्षमें जड़, त्वक्, स्कंधादि होते हैं, वे सब संसारवृक्षमें क्या हैं, यह आगे नकशेमें दिखाया गया है।

१—मूल अव्यक्त	२—चार त्वचा	३—षट्स्कंध	४—२५ शाखाएँ
१ आदिशक्ति माया मूल है—'**आदिसक्ति जेहि जग उपजाया**', **एक रचइ जग गुन बस जाके।**'—(पं०, शीला, मा० म०, खर्रा)।	१ जाग्रत् आदि चार अवस्थाएँ—पं०, शीला	१ षट्विकार '**अस्ति जायते विपरिणमते वर्द्धते क्षीयते नश्यति**' —शीला	१ पञ्चतत्त्वसे जो पञ्चीकरण हुआ—पं० * प्रत्येक तत्त्वमें पाँच-पाँच प्रकृतियाँ हैं।— करु०
२ निर्गुणब्रह्म मूल है इससे अनादि कहा—शीला।	२ चारों अवस्थाओंके विभुविश्व, तैजस, प्राज्ञ, प्रत्यगात्मा—पं०	२ क्षुधा, तृषा, हर्ष, शोक, जन्म, मरण—पं०	२२५ प्रकृतियाँ-पां० करु०, शीला।
३ मूल अव्यय है=जाना नहीं	३ तैजसयुत सत्त्व, रज,	३ सुख-दुःख, शीतोष्ण	३ करु०—एक-एक

* (i) करु०, मा० क०; खर्रा—(१) जलतत्त्वमें—पीच, वीर्य, स्वेद, लार और रक्त। (२) पित्त अग्निमें-क्रान्त, आलस, निद्रा, भूख और प्यास। (३) पवनमें—धावन, उछरन, पगधरन, स्पर्श और संकोचन। (४) गगनमें—काम, मत्सर, लोभ, क्रोध और मोह। (५) पृथ्वीमें—अस्थि, मांस, नाड़ी, त्वचा, रोम। (ii)—मनस्कन्ध सीधा चला गया है। उसमें शाखाएँ नहीं फूटी हैं, इसीसे उसको अकेला कहा है।

जाता कि क्या है, इसका कर्त्ता कौन है और यह कबसे है। (मा० म०) ४ रेफ मूल है—(मा० क०) ५ अव्यक्त ब्रह्म मूल है। जगत् कबसे हुआ यह जाना नहीं जाता, अतः अनादि कहा-(पं०) ६ रा० व० श०—सांख्यमतसे अव्यक्त मूल प्रकृति है और वेदान्तमतसे ब्रह्म है।	तम तीनों गुण—मा० म० ४ शुद्ध सत्त्व गुण, सत्त्व, रज, तम। ये चार रङ्ग शुद्ध श्वेत, श्वेत, अरुण, श्यामकी चार त्वचाएँ हैं-मा० क०,-खर्रा ५ 'मन, चित्त, बुद्धि, अहंकार, वा, चारों युग। वा, चारों फल। वा, जीवकी अंडजादि खानि—(पां०)। वा, चारों वेद इत्यादि चार त्वचा लोग कहते हैं। मेरी समझमें चार कला चार त्वक् हैं—एक ॐकार और सत्, रज, तम तीन गुण, ये चार हुए' *—(करु०) ६ सत्, रज, तम (श्वेत, लाल काली) तीन त्वचाएँ हैं। चौथी बड़ी महीन झीनी त्वचा है। यह तीनों गुणों-की साम्यावस्था अहंकार है जो बड़ी सूक्ष्म है—(पं० रा० व० श०)	ज्ञानाज्ञान—पां० ४ क्षिति, जल, पावक, समीर, गगन पञ्चतत्त्व और मन-(करु०, मा० म०)। इनके रंग पीत, श्वेत, लाल, श्याम और हरे हैं। मनकी संख्या होने योग्य नहीं—(मा० क०) ५ करु०—'कोई षट् धातु-(पर धातु सात हैं), कोई षट्-विकार, कोई षट् शास्त्र, वा पञ्चज्ञानेन्द्रिय और मन इत्यादिको स्कंध कहते हैं। पर इनमें सब अंग 'शाखा, फूल आदि' नहीं मिलते। मन मध्यका स्कंध है और पंचतत्त्व गिर्दावलीके हैं।' ६ पञ्चज्ञानेन्द्रिय और मन—खर्रा	स्कंधमें ५-५ शाखाएँ मानें तो ३० और ४-४ मानें तो २४ होती हैं, २५ नहीं। इससे जान पड़ता है कि मनस्कंध-की शाखाएँ गिनतीमें नहीं ली गयीं, क्योंकि मनके संकल्प-विकल्प अनेक हैं, अगणित हैं।

५-६ पर्णसुमनघने	७—फल मधुर कटु	८—बेलि अकेलि
१ पञ्चीकरणसे जो अनेक देह उत्पन्न हुए वे पत्र-पुष्प हैं—पं० २ वासनाएँ पत्रसमूह हैं जो झड़ते और लगते रहते हैं। जो इनके संकल्प उठते रहते हैं वे फूल हैं, किसीमें फूल लगता है और कोई झड़ जाते हैं—पां० ३ अनेक प्रकारके विषय और विषय-भोगकी वासनाएँ अनेक पर्ण और फूल हैं। (शीला)	१ सुख-दुःख फल हैं, एक मीठा दूसरा कटु—पं०, शीला २ मनके विमुख होना कटु फल है और अनुकूल होना मधुर है—मा० मा० ३ पाप-पुण्य फल हैं—पां० ४ हानि-लाभ, दुःख-सुख, शोक-हर्ष, नरक-स्वर्ग इत्यादि दो-दो प्रकारके शुभाशुभ ही	१ बेलिका अर्थ यहाँ बेला, आलबाल है जो वृक्षकी रक्षा करता है। इसीके आश्रित संसार-वृक्ष फूलता-फलता है। लता अर्थ लेकर इसे माया मानें तो बेलिके आश्रय वृक्ष नहीं बनता और माया तो अव्यक्त पदमें आ भी गयी है।-पं० २ विद्यामाया बेलि है जिसने त्रिगुणको लेकर लोमप्रति पत्ररूपी सृष्टि की है और चार प्रकारके (अण्डजादि) जीवरूपी फल उत्पन्न किये हैं—मा० म०

* करु०—एक बकला सूक्ष्म, अतिकोमल और अतिश्वेत लकड़ीमें लपट रहा है, जिससे मिला पहलेसे कुछ मोटा श्वेत दूसरा बकला है। फिर दूसरेपर लाल रंगका और उसपर काले रंगका बकला है। ये चार प्रत्यक्ष देख पड़ते हैं—इस तरह कि प्रणव अतिश्वेत सूक्ष्म जीवमें मिला फिर उसपर क्रमसे सत्त्व, रज और तम हैं।

४ मनकी अनेक चेष्टाएँ अर्थात् संकल्प-विकल्प पत्ते हैं, चेष्टाकी पूर्ति फूल है—मा० म० ५ अनेक प्रकारके शुभाशुभ कर्म पत्ते हैं, कर्मोंके फलकी वासनाएँ फूल हैं— करु० ६ मनोराज्यरूप घने सुमन—खर्रा। ७ एक-एक स्कन्धमें दो-दो पत्ते और दो-दो फूल और दो-दो फल लगे हैं* यथा—	दो प्रकारके फल हैं। ५ शुभरूप मधुर फल, अशुभरूप कटु फल—खर्रा।	३ मायाके आश्रित संसार है, जबतक माया है तभीतक संसार। यह विटप सदा फूलता-फलता हरा-भरा रहता है। नित्य नये विषयोंकी वासनाएँ पत्ते और नित्य नये दुःख-सुख ही कटु मधुर फल हैं। ४ संसारको प्रथम वृक्ष कहा और अब उसीको बेलि कहते हैं। वा, संसारतरुमें अहंममरूपी माया (ममत्व) जो संसारमें छा रही है वही बेलि जो वृक्षके आश्रित है। ५ अविद्यामाया सदैव आशा-निराशारूपी पत्तियोंसे परिपूर्ण रहती है। यह नित्य नवपल्लवयुक्त और फूलती-फलती रहती है—पां० ६ अविद्यामाया बेलि है, वासनारूप पल्लव और मनोराज्य-रूप फूल होते हैं। यह उपमेयाङ्गलुप्त रूपक है—खर्रा

नोट—मा० क० में पत्ते, भेंटी, फूल, फल, कटु-मधुर, पक्षी और भोक्ता इतने भाग करके दिखाये हैं; यहाँ कविने पत्ते, फूल, फलभर गिनाये हैं, इससे उतना ही अंश नक्शा बनाकर दिखाया गया है। इसका खुलासा यह जान पड़ता है कि उनके मतानुसार एक-एक ज्ञानेन्द्रिय और एक-एक कर्मेन्द्रिय एक-एक स्कन्धके दो-दो पत्ते हैं, इन्द्रियविषय भेंटी, विषय-सुखका समय निकट आना फूल, विषय-भोग होना फल, विषयभोगसे दुःख या सुख होना कटुता और मधुरता है। इसके भोक्ता पक्षी इन्द्रियोंके देवता हैं।

नोट—भा० ३। ९। १६ में ब्रह्माजीने भी भगवान्‌को 'भुवनद्रुम' अर्थात् विश्वविटप कहा है, पर वहाँ मानसका-सा साङ्गरूपक नहीं है। मिलानके लिये उसे यहाँ उद्धृत करता हूँ—'**यो वा अहं च गिरिशश्च विभुः स्वयं च स्थित्युद्भवप्रलयहेतव आत्ममूलम्। भित्त्वा त्रिपाद्ववृध एक उरुप्ररोहस्तस्मै नमो भगवते भुवनद्रुमाय॥**' अर्थात् जो जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयके लिये अपने मूल स्वरूपसे मेरे, अपने और शिवजीके रूपमें विभक्त हो प्रजापति और मनु वा मरीचि आदि रूपसे फैलकर वृद्धिको प्राप्त हुए हैं, उन विश्वविटपरूप भगवान्‌को मैं प्रणाम करता हूँ।

भागवत एकादश स्कन्धमें विश्वविटपका कुछ विस्तृत रूपक है, जो भगवान्‌ने श्रीउद्धवजीसे कहा है। उसमें बीज, स्कन्ध, शाखाएँ, फल, रस और दो पक्षियोंका निवास भी कहा गया है। अतः उन श्लोकोंको भी हमने यहाँ मिलानके लिये पृष्ठ ११५ पाद-टिप्पणीमें उद्धृत कर दिया है।

मानसकल्लोलिनी—अब चारों वेद एकत्र होकर स्तुति करते हैं। इस स्तुतिका सार मर्म यह है कि हे रसीले! रसयुक्त श्रीजानकीजीके शृङ्गारके रसिक श्रीरामचन्द्र! आप ही विश्वविटप हैं और आप ही इसको भोगनेवाले हैं।

* पृथ्वी		अग्नि		गगन		जल		समीर		
नाक	गुदा	रूप	पद	कान	मुख	रसना	लिंग	त्वचा	हाथ	—दो पत्ते
गंध	त्यागेच्छा	दर्शन	गमन	सुनना	अर्थ	षड्रस	वीर्य	स्पर्शसुख	शुभाशुभ	—फूल
सुवास कुवास	त्याग	स्वरूप कुरूप	सुपथ कुपथ	कुशब्द सुशब्द	अर्थ अनर्थ	भक्ष्या-भक्ष्य	स्त्री पुरुष	कोमलता कठोरता	ग्रहण	फल
अनुभव	×	अनुभव	पथका दुःख-सुख	अनुभव	स्वाद	अनुभव	गुण अवगुण	अनुभव	×	— कटु-मधुर

छं०—जे ब्रह्म अजमद्वैतमनुभवगम्य मनपर ध्यावहीं।
ते कहहु जानहु नाथ हम तव सगुन जस नित गावहीं॥
करुनायतन प्रभु सदगुनाकर देव येह बर माँगहीं।
मन बचन कर्म बिकार तजि तव चरन हम अनुरागहीं॥६॥

अर्थ—ब्रह्म अज है (जन्म नहीं लेता), अद्वैत है (वही सब कुछ है, उसके अतिरिक्त कुछ नहीं है), अनुभवसे जाना जाता है (और सब इन्द्रियोंसे परे है, ऐसा सूक्ष्म है), और मनसे परे है जो ऐसा ध्यान करते हैं, वे ऐसा कहा करें और जानें; हम तो, हे नाथ! आपका सगुण यश नित्य गाते हैं*। करुणाके धाम! हे सद्गुणोंकी खानि! हे प्रभो! हे देव (दिव्य शरीरवाले)! हम यह वर माँगते हैं कि मन, कर्म और वचनके विकारोंको छोड़कर हम आपके चरणोंमें प्रेम करें॥ ६॥

पं० रा० कु०—१ *'ते कहहु जानहु·········।'* तात्पर्य कि ब्रह्म न कहते बने, न जानते बने, यथा—**'ब्रह्मन् ब्रह्मण्यनिर्देश्ये·········'**—(भा० १०। ८७। दोहा १२ में देखिये) सगुण रूपका यश गाते बनता है, इसीसे हम आपके सगुण रूपका यश गाते हैं।

पं० रा० व० श०—१ जैसे भगवान्‌ने उपनिषदोंका सार सिद्धान्त बताया है कि—**'मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु' 'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज'** वैसे ही वेद अपना सिद्धान्त यहाँ स्तुतिके अन्तमें करते हैं। इससे जनाया कि प्रस्थानत्रय-वेदान्तब्रह्मसूत्र और समस्त उपनिषदोंका यही सिद्धान्त है।

२—**'अजमद्वैत·······'**। भाव कि वह अज है, अद्वैत है, मायाने आवरण डालकर तुमसे छिपा दिया और जगत्‌में ब्रह्मकी भावना करा दी—ऐसा वे कहते हैं। पर हमारा सिद्धान्त यही है कि ब्रह्म सगुण है, और गुणयुक्त जानकर हम गुणोंका यश वर्णन करते हैं।

मानस-कल्लोलिनी १—*'ते कहहु जानहु'* इति। भाव यह कि 'ब्रह्म अद्वैत, मनसे परे, अनुभवगम्य और अनादि है, तो मन और अनुभवसे पार भी कहते हैं और ध्यान भी करते हैं, यह नहीं मालूम होता कि जो इस प्रकार कहते और करते हैं उनका क्या सिद्धान्त है। अलख कहते हैं पुनः उसीको लखते भी हैं, मनसे परे अगुण कहते हैं और उसीको मनमें गुनते भी हैं—एवं प्रकार अघटितको घटित समझकर अपने अटपट सिद्धान्तको सराहकर हर्षित होते हैं। हम नहीं जानते कि वे क्या कहते हैं और मनमें क्या समझते हैं।'

खर्रा—वेद कहते हैं कि 'जो कोई आपके निर्गुण-सगुणरूपोंमें आपके द्विभुज धनुर्धर किशोर वेशको छोड़कर केवल ब्रह्मव्यापकरूप और दशरथनन्दन रामको छोड़कर केवल अज और सीतासहित द्वितीय युगल वेषको छोड़कर केवल अद्वैत और सर्वदा प्रेमसे सुलभको छोड़कर केवल अनुभवगम्य विचारमात्र (से) साध्य स्वरूप सो साध्य नहीं, और अनुग्रहद्वारा सर्वदा सन्निधानत्वको छोड़कर 'वाङ्मनस्‌गोचर अर्थात् एतावन्मात्र ही तत्त्वकी सीमा है' यह चिन्तवन करते हैं वे ही *'कहहिं'* और वे ही *'जानहिं'*। अर्थात् व्याप्यकी अपेक्षासे अज होता है, जो व्याप्य ही नहीं तो ब्रह्म किसका होगा, यह अयुक्त है। और जन्मशीलकी अपेक्षासे अज होता है, जो जन्मशील कोई नहीं तो अज कहना अयुक्त है, द्वितीयकी अपेक्षासे अद्वितीय होता है, जहाँ द्वितीय ही नहीं वहाँ अद्वैत कहना अयुक्त है—जब ये तीनों शंकाएँ हों तब उनके निवारणार्थ ये तीनों पद चाहिये। जो वस्त्वन्तर ही नहीं तो ये तीनों नाम कहाँसे आये। और जो कोई पदार्थ ही नहीं

* सगुण यश गानेके प्रमाण—१ 'यस्यांशेनैव ब्रह्माविष्णुमहेश्वरा अपि जाता महाविष्णुर्यस्य दिव्यगुणाश्च स एव कार्यकारणयोः परः परमपुरुषो रामो दाशरथिर्बभूव' इति अथर्वण-उत्तरार्द्धे।' अर्थात् जिनके अंशसे ही ब्रह्मा, विष्णु, शिव होते हैं और महाविष्णु जिनके दिव्यगुणोंके अवतार हैं वह कार्य-कारणसे परे परमपुरुष श्रीराम दशरथ महाराजके पुत्र हुए।

२ 'ॐ यो वै श्रीरामचन्द्रः स भगवान् यो ब्रह्माविष्णुरीश्वरो यः सर्ववेदात्मा भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः॥'—श्रीराम-तापनीयोपनिषद्। इत्यादि।

है तो अनुभवगम्य कौन पदार्थ होगा एवं अनुभव करेगा सो कौन है। यह भी अयुक्त है। फिर मनसे परे है तब अनुभवगम्य कैसे? 'मनपर' का ध्यान कैसा? अतएव लक्ष्यपर दृष्टि किये बिना सब लक्षण अयुक्त ही भासते हैं। यथा 'नीलो घटः'—यहाँ घट जो लक्ष्य है उसके कहे बिना केवल लक्षणपद 'नील' के कहनेसे घटका बोध नहीं होता, इसी तरह 'ब्रह्मादि सकल विशेषणोंद्वारा लक्ष्यभूत जो दशरथनन्दन आप हैं उन आपको जाने बिना सकल (विशेषण) अयुक्त ही हैं—ऐसा विचारकर हम तो द्विभुज धनुर्धर किशोररूप दशरथनन्दन सीताद्वितीयहीको ब्रह्मादि गौण विशेषणोंका विशेष्य जानकर, अपर उपायोंसे दुर्लभ केवल प्रेमसे सुलभ यह सिद्धान्त मानकर और सदा भक्तोंके सन्निधान देखकर *'सगुन जस नित गावहीं।'*

नोट—इसीको सि० ति० कारने और स्पष्ट किया है। 'यहाँके *'अज अद्वैत'* आदि विशेषण जन्मशीलता एवं द्वैत आदिकी अपेक्षा बिना सिद्ध नहीं हो सकते हैं। अतः सगुणकी अपेक्षासे ही निर्गुणकी सिद्धि होती है; यथा—*'ज्ञान कहै अज्ञान बिनु, तम बिनु कहै प्रकास। निर्गुन कहै जो सगुन बिनु, सो गुरु तुलसीदास॥'* (दोहावली २५१) अर्थात् जैसे भारी अज्ञान कहे बिना ज्ञान नहीं कहा जा सकता, क्योंकि भारी अज्ञानका निवृत्त करना ही ज्ञानका महत् स्वरूप है। तमका महत्त्व बिना कहे प्रकाशका महत्त्व नहीं कहा जा सकता, क्योंकि भारी तमका निवृत्त करना ही प्रकाशका महत्त्व है। उसी तरहसे सगुण ब्रह्मके ऐश्वर्य-कथनके बिना निर्गुणका महत्त्व जानना असम्भव है। इस असम्भवको यदि कोई सम्भव कर दे, तो उस पण्डितको मैं गुरु माननेको तैयार हूँ।

तात्पर्य यह है कि जबतक सगुण ब्रह्मके स्वरूप *'रोम रोम प्रति लागे कोटि कोटि ब्रह्मंड।'* (बा० दो० २०१) को नहीं जानेगा, तबतक उन अनन्त ब्रह्माण्डोंके सम्यक् आधार होते हुए भी उनसे निर्लिप्त रहनेका महत्त्व कोई कैसे जान सकेगा कि वह कितना बड़ा निर्लिप्त है। इसी निर्लिप्तता (निर्गुणता) के महत्त्वकी भगवान्‌ने सराहना की है, यथा—'**मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना। मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः॥ न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्। भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः॥**' (गीता ९। ४-५) अर्थात् सब प्राणी मुझमें ही स्थित हैं, पर मैं उन सबसे निर्लिप्त हूँ। देख, यह मेरा ऐश्वर योग है। मनुष्य अपने एक शरीरसे भी निर्लिप्त नहीं रह सकता, परमात्मा अनन्त ब्रह्माण्डोंका सम्यक् आधार होता हुआ भी उनसे निर्लिप्त है। यथा—'**तत्र यः परमात्मासौ स नित्यो निर्गुणः स्मृतः। न लिप्यते फलैश्चापि पद्मपत्रमिवाम्भसा।** (विष्णुपुराण) एवं '**तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति॥**' (श्वे० ४। ६) अर्थात् निर्लिप्तता ही परमात्माकी निर्गुणता है। स्पष्ट कहा गया है, यथा—'**असङ्गो न हि सज्यते।**' (बृह० ४। ४। २२); अर्थात् वह ब्रह्म असंग है, क्योंकि वह किसीमें आसक्त नहीं होता। इसपर बा० दो० ११५ चौ० १-३ भी देखिये।

पं० रा० कु०—२ (क) *'करुनायतन प्रभु……।'* भाव कि आप करुणायतन हैं, हमपर कृपा करें, आप प्रभु हैं, सब कुछ देनेको समर्थ हैं, हम जो माँगें सो दीजिये, आप सद्गुणखानि हैं, हमें सद्गुण दीजिये, जो हम आगे कहते हैं। (ख) *'मन बचन कर्म……'* इति। *'हम अनुरागहीं',* यह बहुवचन है। यहाँ बहुवचन देकर सूचित किया कि चारों वेदोंका एक ही सिद्धान्त है कि हम मन-कर्म-वचनसे विकारोंको छोड़कर श्रीरामचरणमें अनुराग करें। (ग) ☞ वेदोंने स्तुति *'सगुन निर्गुन'* कहकर आरम्भ की, यथा—*'जय सगुन निर्गुन रूप'* और निर्गुण-सगुण कहकर समाप्ति भी की, यथा—*'जे ब्रह्म अजमद्वैत……सगुन जस नित गावहीं।'*

पां०—*'बिकार तजि'* इति। आपके सिवा अन्यको ब्रह्म मानना मनका विकार है, औरको ब्रह्म कहना वचनका विकार है और अन्य किसीको ब्रह्मबुद्धिसे पूजना कर्मका विकार है।

दो०—सब के देखत बेदन्ह बिनती कीन्हि उदार।
अंतर्धान भए पुनि गए ब्रह्म आगार॥
बैनतेय सुनु संभु तब आए जहँ रघुबीर।
बिनय करत गदगद गिरा पूरित पुलक सरीर॥ १३॥

अर्थ—सबके देखते वेदोंने उदार श्रीरामजीकी यह उदार (श्रेष्ठ और महान् वा बड़ी) विनती की, फिर अन्तर्धान हो गये और ब्रह्मलोकको गये। भुशुण्डिजी कहते हैं कि हे विनताके पुत्र गरुड़जी! सुनिये, (जब वेद चले गये) तब शिवजी वहाँ आये, जहाँ श्रीरघुवीर हैं और स्तुति करने लगे। उनकी वाणी गद्‌गद है और शरीर पुलकसे भरा हुआ है॥ १३॥

टिप्पणी—१ *'सब के देखत'* का भाव। वेदोंका रूप नहीं है, वेद वाणीमय हैं और बंदीवेष धारण किये हैं, इसीसे सब कोई देखता है। पर किसीने लख न पाया कि ये वेद हैं, सब उन्हें बंदी जानते रहे।*

वि० त्रि०—*'सब के देखत ब्रह्म आगार'* इति। वेद तो सदा स्तुति किया करते हैं, यथा—***'बंदौं चारिउ बेद भव बारिधि बोहित सरिस। जिन्हहिं न सपनेहु खेद बरनत रघुबर बिसद जस॥'*** उसी स्तुतिद्वारा लोग भवसागर पार उतरा करते हैं। जहाँ-जहाँ वेदघोष होता है वहाँ-वहाँ वेद-स्तुति होती रहती है, क्योंकि सम्पूर्ण वेदके एकमात्र वेद्य भगवान् ही हैं, यथा—**'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः।'** पर कहीं प्रकट होकर वेद लोग स्तुति नहीं करते। यहाँ तो ***'सिंहासन पर त्रिभुवन साईं। देखि सुरन्ह दुंदुभी बजाईं॥'*** अतः वेद भी बन्दीरूपसे साकार होकर प्रकट हुए, और स्तुति करके सबके देखते-देखते अन्तर्धान हो गये। तब सब लोगोंने उनकी स्तुतिके महत्त्वको जाना। उनकी स्तुतिका सार शरणागति थी, इसलिये उनकी स्तुतिको उदार कहा, क्योंकि शरणागतिमें जीवमात्रका अधिकार है, और ***'कीरति भनित भूति भलि सोई। सुरसरि सम सब कर हित होई॥'*** इसलिये इस स्तुतिको उदार कहना प्राप्त था। वेदकी अन्य स्तुतियोंमें शूद्रका अधिकार नहीं है, अतः इसे उदार कहा।

गौड़जी—और-और प्रसंगोंमें जहाँ ब्रह्मादिने भगवान्‌की स्तुति की है वहाँ सबके देखते यह क्रिया नहीं हुई। यदि सबके देखते यह क्रिया हुई होती तो अवतारका रहस्य खुल जाता। असंख्य वानरी सेना प्रभुके रहस्यको निश्चय जान जाती।—***'गुपुत रूप अवतरेउ प्रभु गये जान सब कोइ।'*** स्वयं भगवान् शंकर जब भगवान्‌के पास शंकररूपसे जानेमें इसी विचारसे परहेज करते हैं तो यही बात सभी प्रसंगोंमें समझ लेनी चाहिये। भगवान्‌के चरितसे तो सभी सम्पर्कमें आनेवालोंको कभी-न-कभी यह खयाल जरूर आ जाता है कि ये मनुष्य नहीं हैं। परंतु भगवान्‌की माया ऐसी बलवती है कि जाननेवाला भी अनजान बना रहता है। दशरथजीको मालूम है, क्योंकि वसिष्ठजी उनसे अनेक बार कहते रहे हैं, परंतु उन्हें भी निरन्तर ऐसा विश्वास नहीं है। रामावतारकी बात तो ऐसी है कि चरितमें उतनी विशेष अलौकिकता नहीं है जैसी कृष्णावतारमें। वहाँ तो पद-पदपर यही बात देखी जाती है। क्षणमें अग्नि पी गये, कालियनागको नाथकर एक हजार कमल ले आये, गोवर्धनको सहजमें धारण कर लिया और सात दिनतक उसीकी छायामें रखा, सभी अलौकिक बातें थीं, परंतु हर एक लीलापर मायासे सबको ऐसा मोहित कर लिया कि अत्यन्त सामीप्यवाले भी ऐश्वर्यको भूलकर माधुर्यमें मोहित हो गये। जिन्हें बताते भी हैं उन्हें मना कर देते हैं—***'यह जनि कतहुँ कहसि सुनु माई'*** ब्रह्माजीने देवताओंके साथ सीताजीकी अग्नि-परीक्षापर आकर कहा—**'भवान्नारायणो देवः श्रीमांश्चक्रायुधः प्रभुः। एकशृङ्गो वराहस्त्वं भूतभव्यसपत्नजित्॥'** (वाल्मी० ११९। १३) परंतु वहाँपर भी आपको न एकरार है न इनकार। केवल अपना अज्ञान दिखाते हैं। इसीलिये जिन-जिन प्रसंगोंमें देवताओंने आकर स्तुति की है वहाँ-वहाँ यह समझ लेना चाहिये कि सबके देखनेमें

---

* शीला—'सब के देखत·······', इसका अन्वय अवरेवसे होगा। आते और जाते देखना, विनती करना और सबका सुनना यह ठीक है। वेदरूपसे अथवा यह जानकर कि ये वेद हैं, वेदोंका विनती करना या देखना ठीक नहीं। अर्थ है कि—'वेदोंने उदार विनती की और सबके देखते-देखते वे अन्तर्धान हो गये।' अन्तर्धान होनेसे लोगोंने जाना कि ये वेद थे।—ऐसा क्यों किया? कारण कि प्रथम वे अपने रूपसे आनेको हुए। फिर यह विचार किया कि बड़ी भीड़ है, यदि हमारा आदर न हुआ तो लोकमें हमारा आदर कोई न करेगा जिससे लोकका अकल्याण होगा। अतः भाटरूपसे आये पर सर्वज्ञ प्रभुने मनकी जानकर इनका आदर किया। यह देख वेदोंने सोचा कि अब अपनेको प्रकट कर दें, इसीलिये वे सबके सामने उसी जगह अन्तर्धान हो गये।

कोई घटना नहीं हुई। ब्रह्माने स्तुति की और चले गये। भगवान्‌ने कोई उत्तर नहीं दिया और किसीको खबर भी न हुई कि ब्रह्माजीने स्तुति की या ब्रह्माजी आये भी। मानसकारने उन सब प्रसंगोंपर यह स्पष्ट खोलकर नहीं कहा है कि यह स्तुतिकी क्रिया सबके देखते नहीं हुई है। स्तुतिके प्रसंग मानसमें इतने अधिक आये हैं कि सब जगह इतनी-सी बातको खोल-खोलकर कहना सुन्दर नहीं लगता। विशेषतः इसीलिये *'सब के देखत बेदन्ह बिनती कीन्हि उदार'* इस दोहार्द्धका बहुत भारी महत्त्व है—यह साफ कहे देता है कि स्तुतिके जितने प्रसंग पीछे आ चुके हैं या आगे आयँगे वह *'सब के देखत'* अर्थात् प्रत्यक्ष नहीं हैं, प्रत्युत गुप्त हैं। इस जगह वेद वंदीवेषमें प्रकट हुए हैं और फिर अन्तर्धान हो गये हैं। तो क्या एकदमसे दरबारमेंसे गायब होते सब लोगोंने देखा नहीं? अन्तर्धान होनेकी कोई ऐसी शर्त नहीं है कि एक भीड़की निगाहें किसीपर डटी हों और वह उड़न्छू हो जाय। वंदीजन आये, उनके लिये रास्ता हुआ, दरबारमें आकर उन्होंने स्तुति की और फिर जोहार निवेदन करके जिधरसे आये थे उधरको चले गये। यहाँ दरबारमें लोगोंकी निगाहें सरकारपर डटी हैं। वह वंदीजन जैसे ऐरे-गैरे पंचकल्यानोंकी तरफ कब जाने लगीं। और वेदोंको भी अगर लोगोंका ध्यान आकर्षित करना होता तो वे साधारण वंदियों या चारणका वेष क्यों धारण करते? उनका उद्देश्य भगवद्दर्शन था, अपनेको तमाशा बनाना या चमत्कार दिखाना न था।

जैसे भगवान् सगुण और निर्गुण दोनों रूप हैं वैसे ही वेदभगवान् भी सगुण और निर्गुण दो रूप हैं। इस लीलामय जगत्‌में उनका रूप भी है और शब्द भी। रूप लिखित ग्रन्थ है और शब्द श्रुति। मन्त्र ही वेद शरीरके अवयव हैं। जैसे साधारण स्थूल शरीरके अवयव अत्यन्त सूक्ष्मकण होते हैं, जिनमें शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—ये पाँचों विषय मौजूद रहते हैं। वेदके इन अवयवोंमें शब्दविषयक ही अवयव है और शब्दोंके रूप भी हैं। इस तरह वेद-देहकी रचनामें आकाशकी प्रधानता है और अग्निकी गौणता, शब्दकी प्रधानता है और रूपकी गौणता। इन्हीं अवयवोंसे वा मन्त्रोंसे जो इन अवयवोंके समूह हैं वेदका शरीर बना है। इस तरह वेदोंका आकाश और अग्निमय सूक्ष्म शरीर है और यह नित्य है, सत्य है। वेद शरीररहित नहीं हैं। वेदका अर्थ उसका आत्मा है, जो निराकार, विग्रहरहित, अखण्ड, अनन्त, अव्यय और अव्यक्त है। वाणीके बिना अर्थका व्यक्तीकरण नहीं हो सकता। वाणी और शब्द व्यक्तरूप हैं और अर्थ अव्यक्त। इसीलिये वेदभगवान्‌का दूसरा नाम ब्रह्म भी है।

पं० रा० व० श०—'उदार' का भाव कि ऐसी स्तुति किसीने नहीं की।

मानसकल्लोलिनी—*'गए ब्रह्म आगार'* इति। भाव कि—(क) वेद सदा ब्रह्मलोकमें निवास करते हैं, वहीं गये। वा, (ख)—ब्रह्म=वेद। ब्रह्मधाम=वेदधाम। अर्थात् जहाँ उनका स्थान है वहाँ गये। वा, (ग)—ब्रह्मके स्थान श्रीरामचन्द्रके श्वासमें समा गये।—(वेद प्रभुकी वाणी एवं श्वास हैं—*'निगम निज बानी'* *'जाकी सहज श्वास श्रुति चारी'*)।

नोट—१ बंदीवेषमें स्तुति की, वर माँगा। वर मिला या नहीं, यह कुछ न कहा। गुप्तरीतिसे 'उदार' शब्दसे यहाँ वरदानकी प्राप्ति सूचित कर दी है।—'उदारो दातृ महतः।' २—वैजनाथजी कहते हैं कि 'विनती लोकोद्धारहेतु है, इस स्तुतिसे प्रभुकी उदारता लोकमें प्रसिद्ध करते हैं। अथवा, स्वार्थरहित परमार्थ दर्शित किया है अतः 'उदार' कहा'।

पं० रा० कु०—*'बैनतेय सुनु'''''''* इति। जहाँ रघुवीर हैं वहाँ आये अर्थात् सिंहासनके पास आये, क्योंकि इनको वर माँगना है, यथा—*'बार बार बर माँगउँ हरषि देहु''''''''।'* इसी तरह वेद वर माँगनेके लिये प्रभुके पास आये थे—*'बंदी बेष बेद तब आए जहँ श्रीराम',* और समीप आकर वर माँगा था कि *'मन बचन कर्म।'* गद्गद स्वर और पुलकांङ्ग प्रेमकी दशाएँ हैं।

प० प० प्र०—वेदस्तुति बीसवीं स्तुति है। बीसवाँ नक्षत्र पूर्वाषाढा है। पूर्वाषाढामें चार तारे हैं, वैसे ही इस स्तुतिमें *'नमामहे, स्मरामहे, भजामहे* और *अनुरागहीं'* ये चार तारे हैं। रत्नमाला नाम ज्योतिष

ग्रन्थमें—'**श्रुतिभिस्तमञ्चः**' इस प्रकार तारा-संख्या और आकारका वर्णन है। मञ्चके चार पैर होते हैं और आकार लम्बा चतुरस्र होता है। आकाशमें नक्षत्रका आकार भी ऐसा ही देखनेमें आता है। नक्षत्रका देवता जल है। वैसे ही इस स्तुतिमें त्रैलोक्यपावन सुरसरी, नखनिर्गता मुनिवन्दिता हैं ही। फलश्रुति है—'***अभिमत दानि देवतरु बरसे***', वैसे ही इस स्तुतिमें श्रीरामजी ही संसार-विटप हैं तथा नमन, स्मरण, भजन और अनुरागवालोंको जो चाहे वही दे सकते हैं। इससे वेद भी उन्हींसे वर माँगते हैं (नक्षत्र नाम साम्य अभीतक निश्चित रूपसे सिद्ध नहीं हुआ)। वेद भी उनके वचनानुसार चलनेवालोंको अभिमतदानि हैं ही। देवतरु ऐहिक सुख लाभ दे सकता है, वह वेद भी दे सकते हैं। '**त्रैगुण्यविषया वेदाः**', अतः वे त्रिगुणात्मक सब कुछ दे सकते हैं। आकाशमें जिस प्रकार पूर्वाषाढ़ा और उत्तराषाढ़ा नक्षत्र इतने समीप हैं कि मानो एक ही नक्षत्र-से मालूम पड़ते हैं, उसी प्रकार वेदस्तुति जिस दोहेमें सम्पूर्ण होती है उसी दोहा १३ में शिवजी '*आए जहँ रघुबीर।*' यह साम्य केवल काकतालीय न्यायसे असम्भव है ऐसा ही विशाखा, अनुराधा, ज्येष्ठा और मूल इन लंकाकाण्डगत चार स्तुतियोंका सम्बन्ध है।

(तोटकवृत्त)

छं०—जय रामरमारमनं समनं भवताप भयाकुल पाहि जनं।
अवधेस सुरेस रमेस बिभो सरनागत माँगत पाहि प्रभो॥ १॥
दससीस बिनासन बीस भुजा कृत दूरि महा महि भूरि रुजा।
रजनीचरबृंद पतंग रहे सर पावक तेज प्रचंड दहे॥ २॥

अर्थ—हे राम! हे रमारमण! हे रमापति रामचन्द्रजी! आपकी जय! हे संसारतापके नाश करनेवाले! भवभयसे व्याकुल जनकी* रक्षा कीजिये। हे अवधपति! हे देवताओंके स्वामी! हे लक्ष्मीके स्वामी! हे विभो! हे प्रभो! शरणमें प्राप्त होकर आपसे माँगता हूँ कि (मेरी) रक्षा कीजिये॥ १॥ हे दससिर और बीस भुजावाले रावणके नाश करनेवाले! आपने पृथ्वीका समूह महारोग दूर किया। निशिचरवृन्द पतंगरूप थे जो आपके बाणरूपी अग्निकी तीक्ष्ण आँचमें जल मरे।

टिप्पणी—१ (क) '*रामरमारमनं*' इति। श्रीरामजी श्रीजानकीजी सहित सिंहासनपर विराजमान हैं, इसीसे श्रीजानकीजीसहित उनकी जय बोलते हैं। रमारमण अर्थात् रमाजीके पति कहकर दोनोंकी जय सूचित की। (ख) जब राजा राजगद्दीपर बैठता है तब समस्त लक्ष्मीका पति होता है, इससे श्रीरामजीको यहाँ 'रमारमण' कहा। पुनः आगे वर माँगना है ही, इससे उनको लक्ष्मीपति कहा अर्थात् आप सब कुछ दे सकते हैं।

पुजारी रामकुमारदासजी (मणिपर्वत)—'**रमारमनं**' इति। श्रीरामजीने कभी अपने नित्य रूपमें लक्ष्मीजीको पत्नी नहीं स्वीकार किया। अतः रामजी लक्ष्मीरमण नहीं कहे जा सकते। यहाँ 'रमण' क्रियाके सम्बन्धसे 'रमा' नाम दिया गया है—'**रमु क्रीडायाम्।**' श्रीरामजीकी इस मर्यादापुरुषोत्तमत्वपर पद्मपुराणमें एक कथा भी है कि श्रीरमा (लक्ष्मी) जीने आपके एकपत्नीव्रतके परीक्षार्थ एक समय मोहन दृष्टिसे आपपर वाग्बाण छोड़े, पर आपने सिर नीचा कर लिया और प्रणाम करके चले आये। शिव-नारायण आदि सब यह चरित देख श्रीरघुनाथजीकी प्रशंसा करने लगे।—[पातालखण्ड अध्याय १०५ पृ० १३८ बेंकटेश्वर (१८५२ सं०)]। अतः यह स्पष्ट है कि 'रमा' श्रीजानकजीका ही विशेषण है, विष्णु वा नारायणपत्नी लक्ष्मीका नहीं। रमणक्रिया होनेहीके कारणसे जिस तरह रामतापनीयोपनिषद्में '**रमन्ते योगिनोऽनन्ते सत्यानन्दे चिदात्मनि। इति रामपदेनासौ**

* रा० प्र० आदि टीकाकारोंने 'जन' का अर्थ 'मुझ जन' किया है, पं० रा० कु० जीके खर्रेमें 'जन' से 'समस्त जन' का भाव लिया गया है। यदि दोनों भाव यहाँ लें तो अधिक अच्छा जान पड़ता है, क्योंकि ब्रह्माजी और शिवजी भी मायासे बचे नहीं हैं, उससे डरते ही रहते हैं। अपने लिये भी 'भवताप भयाकुल' कहनेमें कोई असंगति नहीं है। इसी तरह 'सरनागत माँगत पाहि' का भी दोनों भाव लिये हुए अर्थ होगा। शरणागतजन (मैं एवं सब) 'पाहि' माँगता है।

परं ब्रह्माभिधीयते' यह श्रुति श्रीरामजीके लिये है वैसे ही बृहद्ब्रह्मसंहिता तृतीयपादस्थ प्रथमाध्याय श्लोक ७९, ८३ में श्रीजानकीजीके लिये लिखा है।

'वामाङ्के जानकी देवी किशोरी कनकोज्ज्वला। कैवल्यरूपिणी नित्या नित्यानन्दैकविग्रहा॥

सेयं सीता भगवती ज्ञानानन्दस्वरूपिणी। योगिनां रमणे रामे रमते रामवल्लभा॥'

यही भाव श्रीहारीतजीके '**श्रियो रमणसामर्थ्यात्**' तथा श्रीवाल्मीकिजीके '**रामो रमयतां वरः**' वचनमें है। विशेष १४ छन्द १० 'श्रीरमण' में देखिये।

गौड़जी—'*राम रमारमनं*' इति।—इस स्तुतिके उपक्रममें 'राम' शब्दके बाद ही 'रमारमण' है, 'रमेश' है और उपसंहारमें '*हरषि देहु श्रीरंग*' है। यह दोनों शब्द लक्ष्मीनारायणके वाचक हैं और यह सारी स्तुति लक्ष्मीनारायणवाले सीतारामावतारके सम्बन्धकी है। इसमें खींचातानी करके झूठमूठकी उठायी हुई शंकाओंका निराकरण करनेका प्रयास व्यर्थ है। गोस्वामीजीने विचित्रकथा-प्रबन्धकी प्रतिज्ञा करके चार कथाएँ एकमें ग्रथित की हैं। जहाँ कहीं किसी कथाविशेषकी ओर इङ्गित है वहाँ ध्वनिसे, शब्दोंसे और शब्दशक्तिसे वे इस बातका स्पष्टीकरण कर देते हैं, यहाँ भी रमारमण, रमेश और श्रीरङ्ग वाच्यार्थ और ध्वनितार्थ दोनोंसे नारायणके अवतारका वर्णन करते हैं।' दोहा ११ देखिये।

मा० म०—'रमारमण' में गुप्तभाव यह है कि मैंने अनीति जानकर सतीको त्याग दिया और आपने लीलादेवीका ग्रहण करना अनीति जान उनको त्याग दिया। दोनों पावकमें प्रवेश कर गयीं, पर आपने भूदेवी रमाको प्रकट करके उनसे प्रीति की। मुझे सतीके प्रीतिकी पीड़ा है सो मुझे 'उमेश' करके उस पीड़ाको मिटाइये।—[पर शंकरजी ऐसे परम भक्तके विषयमें यह भाव असंगत है।]

पं० रा० कु०—'*भवताप भयाकुल*' इति। आगे महादेवजी कहते हैं कि हम आपकी शरणमें आये हैं और शरणमें सभीत होकर आना आवश्यक है, यथा—'*जौं सभीत आवा सरनाईं। रखिहउँ ताहि प्रान की नाईं॥*' (सु० ४४) '*जौं नर होइ चराचर द्रोही। आवइ सभय सरन तकि मोही॥........॥*' (सु० ४८) इसीसे वे भयसे शरणमें आना कहते हैं।

गौड़जी—'*भवताप भयाकुल*' इस स्तुतिके इस अंशसे ऐसा जान पड़ता है कि भगवान् शंकर स्वयं भवतापसे पीड़ित हैं, संसारके जन्म, जरा, व्याधि, मरण, दैहिक-दैविक-भौतिक तापोंसे ग्रस्त भगवान् शंकरको इनके भयसे बड़ी आकुलता है। अथवा, यदि तापग्रस्त नहीं हैं तो इन तापोंके होनेका इन्हें आगे जाकर बहुत भय है, उसकी आशंकासे अकुलाकर भगवान्से प्रार्थना करते हैं कि अपने जनकी रक्षा कीजिये। ईश्वरके मुखसे ऐसी वाणी दो ही सूरतोंमें निकल सकती है। एक तो जीवको यह शिक्षा देनेके लिये कि 'भवताप-भयाकुल' होकर भवभयहारी भगवान्से इस तरह प्रार्थना की जाती है। दूसरी सूरत यह हो सकती है जिसकी इच्छासे सृष्टिकी रचना हुई है और जिसने संसृतिके ताप अपनी मायासे उत्पन्न कर रखे हैं, उसीसे पीड़ित जनोंकी ओरसे भगवान् शंकर प्रार्थना कर रहे हों। भगवान् शंकर इस प्रसङ्गमें मायामानुषरूप धर करके प्रार्थना नहीं कर रहे हैं। शत्रुके हाथोंसे वन्दिनीको छुड़ाने और उसपर विजय पानेकी कामनासे मायामानुषरूपी भगवान्का भगवान् रामेश्वरसे प्रार्थना करनेमें '*भवताप भयाकुल पाहि जनं*' अधिक सुसंगत होता। अतएव प्रस्तुत प्रसङ्गमें भगवान् शंकर नये-नये राज्यसिंहासनपर आरूढ़ होनेवाले मायामानुषरूपी अवधेशसे संसारके तरह-तरहके तापोंसे प्रपीड़ित प्रजाओंकी ओरसे विनय कर रहे हैं। यदि यह कहा जाय कि कोशलप्रान्तकी प्रजाके लिये क्या कोई अयोध्यावाला वकील नहीं काम दे सकता था, तो इसका उत्तर यह है कि यह विनयपत्र केवल कोशल देशकी प्रजाकी ओरसे नहीं है। नारायणसृष्टिके विश्वभरके ८४ लक्ष योनियोंमें चारों आकरोंमें विचरनेवाले ताप-पीड़ित जीवोंकी ओरसे यह वकालत है। आपने रावणको मारकर त्रैलोक्यको अनेक कष्टोंसे बचाया है तब जाकर आप इस राज्यसिंहासनपर शुभासीन हुए हैं। अब आगेके दस हजार वर्षोंमें आपको अखिल विश्वके जीवोंका ताप हरण करना है। भगवान् शंकर पशुपति हैं, विश्वनाथ हैं, समस्त जीवोंकी ओरसे अपराजिता, साकेत, अवध-ईशसे सबकी ओरसे विनय करनेका उन्हींको अधिकार है।

खर्रा—☞१ इस स्तुतिमें वर्णवृत्तछन्दमें चारों सगण आवें, इस विचारसे गौरवनिमित्त कहीं-कहीं अनुस्वार दिया गया है। यह अनुस्वार पदपूरणार्थ कहा है। २—*'समनं भवताप भयाकुल पाहि जनं'*—हे शमन! भवतापभयसे व्याकुल जनोंकी रक्षा कीजिये। ☞यह विनय सब जीवोंके निमित्त की और आगे *'अवधेस.........'* में अपना हेतु कहते हैं।

टिप्पणी—२ *'अवधेस सुरेस.........'* इति। आप अवधेश हैं, राजा प्रजाकी रक्षा करते है, हम आपकी प्रजा हैं। आप सुरेश हैं, हम सुर हैं। आप रमेश हैं, हम आपके सेवक हैं, आपकी उपासना करते हैं। आप विभु हैं, हम आपके चैतन्य हैं अर्थात् आप ब्रह्म हैं, हम जीव हैं। हम सब विधिसे शरण माँगते हैं, अथवा, हम शरणमें आये हैं आप हमारी रक्षा करें। आप रक्षा करनेमें 'प्रभु' अर्थात् समर्थ हैं।

पां०—*'अवधेस सुरेस रमेस विभो.........।'* एक अर्थ यह है कि आप अवधेश हैं और आपका यही रूप 'सुरेश' एवं 'रमेश' और 'प्रभु' भी है, अतएव मेरी रक्षा कीजिये। दूसरा अर्थ यह है कि—आप अवधेश हैं मेरी रक्षा करें। यदि यह शंका हो कि आप (शंकरजी) तो देवता हैं तो उसका निवारण करते हैं कि आप 'सुरेश' हैं, इससे भी मेरी रक्षा करना उचित है। यदि आप कहें कि आप तो बड़े देवता (महादेव, महेश) हैं तो उसपर कहते हैं कि आप 'रमेश' हैं। यदि कहिये कि आप शंकर हैं तो उसका उत्तर है कि आप 'विभु' हैं कि जिनसे त्रिदेव उत्पन्न हुए हैं। जैसे भी हो हमारी रक्षा कीजिये।

गौड़जी—इस स्तुतिमें विशेषणात्मक सम्बोधन साभिप्राय है। जैसे *'सुरेश'* से अभिप्राय है कि आप केवल अवधेश नहीं हैं सुरेश भी हैं। रमेशसे यह अभिप्राय है कि आप केवल अवधके मनुष्य राजा नहीं हैं, बल्कि आप रमेश हैं और कौन रमेश हैं—विभु नारायण इस विश्वके मूलकारण जिसमें अनन्त-कोटि ब्रह्माण्ड हैं। केवल एक ब्रह्माण्डके नायक विष्णु नहीं। रमारमण कहनेसे ब्रह्माण्डनायकका ही बोध होता, परंतु *'रमेस विभो'* ने निश्चय करा दिया कि रमारमणपद नारायणका बोधक है।

पं०, रा० प्र०—१ *'दससीस'* और *'बीस भुजा'* का भाव यहाँ यह है कि संसारमें जिस ज्वरका स्वरूप तीन शिखावाला कहा गया है वह ही परम कष्ट देता है और यह तो १० सिर और २० भुजावाला रोग था तब इसने जो कष्ट दिया उसका क्या कहना? १० सिर होनेसे उसे पृथ्वीका महारोग कहा।

वि० त्रि०—शास्त्रोंमें रोगोंके रूपका भी वर्णन मिलता है, यथा—'**ज्वरस्त्रिपादस्त्रिशिराः सर्वं रोगाग्रजो बली।**' अर्थात् ज्वरके तीन पैर हैं और तीन सिर हैं, यह सब रोगोंका बड़ा भाई है। इसी भाँति इस विशाल पृथ्वीको रावणरूपी विचित्र रोग हो गया था, जिसे दस सिर और बीस हाथ थे। यह रावणरूपी रोग सब रोगोंका राजा था, (यथा—*'रावन सों राज रोग बाढ़त बिराट उर'*)। राजा कहीं अकेले नहीं पधारते, जहाँ जाते हैं वहाँ कुछ लोग उनके साथ रहते हैं, इसी भाँति रावणरूपी राजरोगने अन्य उपद्रवोंको साथ लिये हुए पृथ्वीको व्याकुल कर रखा था। उसे हटानेमें कोई समर्थ न था, उसे दूर करके सरकारने पृथ्वीको स्वास्थ्य प्रदान किया (यथा—*'जय जय धुनि पूरि रही ब्रह्मंडा। जय रघुबीर प्रबल भुजदंडा॥'*

टिप्पणी—३ *'महा महि भूरिरुजा।'* रावण पृथिवीमें महारोग अर्थात् राजरोगके समान था सो उसको आपने दूर किया, यथा—*'रावण सो राजरोग.........'* (क०)। 'भूरि' अर्थात् और भी बहुत-से रोग थे जो आगे कहते हैं। ['पतंग' और पावककी उपमा देकर जनाया कि उनके मारनेमें आपको कोई यत्न वा श्रम नहीं करना पड़ा। जैसे पतंग स्वयं अग्निमें मोहवश आकर गिरकर मर जाते हैं वैसे ही निशिचर स्वयं ही अपने मोहवश अपने काल हुए।* (पं० रा० प्र०)] मिलान कीजिये—*'निसिचरनिकर पतंगसम रघुपति बान कृसानु। जननी हृदय धीर धरु जरे निसाचर जानु॥'* (५। १५) *'होहि कि रामसरानल खलु कुल सहित पतंग।'* (५। ५६)

४—*'सरपावक तेज प्रचंड दहे'* का भाव कि बाणाग्निका तेज प्रचण्ड है, यह उन्होंने न जाना, इसीसे उसमें भस्म हो गये।

* यह परम्परितरूपकके ढंगका 'सम अभेद रूपक' अलंकार है।

छं०—महिमंडल मंडन चारुतरं, धृत सायक चाप निषंग बरं।
मद मोह महा ममता रजनी, तमपुंज दिवाकर तेज अनी॥ ३॥
मनजात किरात निपात किए, मृग लोग कुभोग सरेन हिए।
हति नाथ अनाथन्हि पाहि हरे, बिषया बन पाँवर भूलि परे॥ ४॥

अर्थ—आप पृथिवीमण्डलके (भूषित करनेवाले) अत्यन्त सुन्दर भूषणरूप हैं और अति सुन्दर श्रेष्ठ बाण, धनुष और तरकश धारण किये हैं। मद, महामोह और महाममतारूपी रात्रिके अन्धकार-समूहके (नष्ट करनेके) लिये आप सूर्य-किरण-समूह हैं॥ ३॥ कामदेवरूपी किरातने मनुष्यरूपी हरिणोंके हृदयमें कुभोगरूपी बाण मारकर उनका नाश किया है। हे दुःखके हरनेवाले! हे नाथ! उसे मारकर विषयरूपी वनमें भूले पड़े हुए नीच अनाथोंकी रक्षा कीजिये॥ ४॥

टिप्पणी—१ (क) *'महिमंडल मंडन.........'* इति। आपने पृथिवी-मण्डलको भूषित करके अत्यन्त शोभित किया। **'सुंदरं रुचिरं चारु मनोज्ञं च मनोहरम्' इत्यमरः। 'अतिशयेन चारु इति चारुतरः।' 'मडि भूषायां'** अर्थात् मडि धातु भूषण अर्थमें है। ऊपर रावणको पृथ्वीका महारोग कहा था। रोगसे शोभा नहीं रहती। पृथ्वीमें रोग था, उसे आपने नाश किया *'कृत दूरि महा महि भूरि रुजा।'* रोगके नाशसे पृथिवी शोभित हुई। ['मंडन' कहकर चारुतरं कहनेका भाव कि आप पृथिवीके भूषित करनेवाले हैं, क्योंकि आप स्वयं सुन्दरतर हैं। *'सायक चाप निषंग बरं'* में द्वन्द्व समास है। 'बर' तीनोंके साथ है। (पं० रा० व० श०)] (ख) रोग ओषधिसे नाश होता है, यहाँ आपके *'सायक चाप निषंग'* ही ओषधि, अनोपान और ओषधि रखनेवाली झोली हैं। इस ओषधिसे निशाचररूपी रोग नाश हुए। दूसरा अर्थ यह है कि रामजी धनुष-बाण-तर्कश धारण किये हुए पृथ्वीके अत्यन्त सुन्दर भूषण हैं।

२—(क) *'मद मोह महा ममता रजनी'* इति। यहाँ इन तीनको ही रात्रि कहा; क्योंकि रात तीन प्रहरकी होती है, उसका त्रियामा नाम ही है। ये तीनों तीन प्रहरकी रात्रि हैं। (ख) *'महाममता रजनी'* का भाव कि रात्रिका अन्त है पर ममतारजनीका अन्त नहीं है। (ग) *'तमपुंज दिवाकर तेज अनी।'* इति। अनी=सेना। सूर्यका तेज किरण है, किरण हजार है—(सूर्य सहस्रांशु कहलाते ही हैं)—इसीसे *'तेज अनी'* कहा। रात्रिका सूर्यसे नाश होता है, इसीसे रामजीको सूर्यके समान कहा। दिवाकर=रात्रिका नाश करके दिन करनेवाला। तमका पुंज है अतः उसके नाशके लिये तेजकी अनी कहा।

३ *'मनजात किरात निपात किए.........'* इति। (क) किरात मृगोंको प्रायः रात्रिमें मारते हैं; इसीसे प्रथम रात्रिका वर्णन किया। कामरूपी किरात लोगोंको कुभोगरूपी शरसे रात्रिमें मारता है। तात्पर्य कि लोग स्त्रियोंसे भोग प्रायः रात्रिमें करते हैं। मदमोह-ममतारूपी रात्रि जब आती है तब स्त्री-भोगकी इच्छा होती है—**'महामोहस्य विज्ञेयो ग्राम्यभेदसुखेच्छनः'** पुनः, रात्रि वर्णन करनेका दूसरा भाव यह है कि रावणादि राक्षसोंका नाश श्रीरामजीके हाथसे होना वर्णन किया, अब अन्तःकरणकी रात्रि और अन्तर (भीतर) के कामादि विकारोंके नाशकी प्रार्थना करते हैं। (ख) *'मृग लोग कुभोग.........'* इति। किरात मृगको बाणसे गिराता है, काम कुभोग बाणसे मारकर लोगोंको गिराता है। अपनी स्त्रीसे रमण करना भोग और पर-स्त्रीसे रमण करना कुभोग कहलाता है। *'सरेन हिए'* का भाव कि कामका प्रवेश हृदयमें होता है। (ग)—कामको किरात कहा; क्योंकि किरातका मृगको मारना उचित है, वैसे ही कामका पशुरूपी विषयी लोगोंको मारना उचित है।

४—*'हति नाथ अनाथन्हि पाहि हरे'* इति। (क) हे नाथ! अनाथोंकी रक्षा करो। कथनका आशय यह है कि आपके रक्षा करनेसे काम नहीं मार सकता। यथा—*'धरी न काहू धीर सबके मन मनसिज हरे। जे राखे रघुबीर ते उबरे तेहि काल महँ॥'* (१। ८५) *'तिन्ह की न काम सकै चापि छाँह, तुलसी जे बसहि रघुबीर बाँह।'* (गी० २। ४९) (ख) याचना करते हैं इसीसे 'नाथ' सम्बोधन किया। **'नाथृ याचने।'** [पुनः भाव कि आप ऐसे नाथके होते हुए भी वह अनाथ बनाकर मारता है, अतः उससे

रक्षा कीजिये। इनकी इतनी चूक जरूर है कि ये पामर हैं, इसीसे विषयवनमें भूल पड़े हैं। (रा० प्र०)] (ग) कामको मारकर सबका क्लेश हरनेको कहा, इसीसे 'हरि' सम्बोधन किया।

५—*'बिषया बन पाँवर भूलि परे'* इति। विषयको वनका रूपक दिया, क्योंकि जैसे वनमें कोई सुख नहीं है, वरन् अनेक प्रकारके भय हैं, वैसे ही विषयसेवनमें कोई सुख नहीं, भय-ही-भय है। विषय-सेवन करनेवाले तुच्छ हैं अतः उनको 'पाँवर' कहा। *'भूलि परे'।* विषय-सेवन करना भूल है। [वनमें लोग प्रायः भटक जाते हैं, यथा—*'फिरेउ महाबन परेउ भुलाई।'* (१। १५७), *'मिलइ न जल घन गहन भुलाने॥'* (४। २४। ३) वैसे ही मनुष्यका विषयभोगमें पड़ना भूलना है, क्योंकि नरतन विषयके लिये नहीं है वरंच भवसागरसे छूटनेके लिये है। यथा—*'एहि तन कर फल बिषय न भाई। स्वर्गउ स्वल्प अंत दुखदाई॥'* (४४। १) विषयोंमें लगनेवालोंको शठ कहा गया है, यथा—*'नर तन पाइ बिषय मन देहीं। पलटि सुधा ते सठ बिष लेहीं॥'* (४४। २) यह 'परम्परित रूपक' है।

पाँ०—भाव कि जो विषयवनमें भूले पड़े थे वे मारे गये, जो बच गये थे उनका हाल आगे कहते हैं कि कोई रोगसे और कोई मरे हुओंके वियोगसे नष्ट हुए और जो फिर भी बचे वे अथाह भवसागरमें पड़े हैं।

छंद—बहु रोग बियोगन्हि लोग भए, भवदंघ्रि निरादर के फल ए।
भवसिंधु अगाध परे नर ते, पदपंकज प्रेम न जे करते॥ ५॥
अति दीन मलीन दुखी नितहीं, जिन्ह के पदपंकज प्रीति नहीं।
अवलंब भवंत कथा जिन्हके, प्रिय संत अनंत सदा तिन्हके॥ ६॥

अर्थ—बहुत-से रोगों और वियोगोंसे लोग मारे गये, यह आपके चरणोंके निरादरके फल हैं। जो आपके चरणकमलोंमें प्रेम नहीं करते वे मनुष्य अथाह भवसागरमें पड़े हैं॥ ५॥ जिनका प्रेम चरणकमलमें नहीं है वे नित्य ही अत्यन्त दीन, मलीन और दुःखी रहते हैं। आपकी कथाका जिन्हें आधार है उनको सदा संत-भगवंत* प्रिय लगते हैं†॥ ६॥

टिप्पणी—१ (क) *'बहु रोग बियोगन्हि.......'* इति। *'बहुरोग.......'* इति। कुभोग पाप है। भय, रोग, शोक और वियोग पापके फल हैं, यथा—*'करहिं पाप पावहिं दुख भय रुज सोक बियोग॥'* (१००) पुनः भाव यह है कि विषयोंमें भूल पड़े, पर विषयोंका सुख भी भली प्रकार भोगनेको नहीं मिलता, बहुत-से रोग और वियोग हो गये। [भाव कि उन्हें एक कामने ही नहीं मारा किंतु बहुरोग, वियोगने भी मारा है। (खर्रा) (ख)—*'भवदंघ्रि निरादर के फल ए'* का तात्पर्य यह कि चरणोंका आदर करते तो विषयोंमें न पड़ते, यथा—*'सुमिरत रामहि तजहिं जन तृन सम बिषय बिलास।'* (२। १४०), *'रामचरनपंकज प्रिय जिन्हहीं। बिषयभोग बस करहि कि तिन्हहीं॥'* (२। ८४। ८) निरादर यह कि भक्तिको निरस जाना, तभी तो भोगमें आसक्त हुए। (पं०)]

२ *'भवसिंधु अगाध परे नर ते.......'* इति। (क) 'अगाध' का भाव कि भवसिंधु ऐसा गहरा है कि फिर उसमेंसे नहीं निकल सकते, उसीमें पड़े रह जाते हैं। आपके चरण भवसे पार करनेवाले हैं। यथा—*'भवजलधिपोत चरनारविन्द जानकीरमन आनन्दकन्द॥ ६४॥'* *'यत्पादप्लव एक एव हि भवाम्भोधेस्तितीर्षावताम्,'* बा० मं० श्लो०। इनमें प्रेम नहीं करते, इसीसे वे भवसिन्धुमें पड़े हैं, बारंबार उनका जन्म-मरण होता है। प्रभुपद-प्रेमके बिना कल्याण नहीं, यथा—*'सब कर फल रघुपतिपद प्रेमा। तेहि बिनु कोउ न पावइ खेमा॥'*—[रा० प्र०—*'पदपंकज प्रेम न जे करते'* का भाव कि चरणकमलके भ्रमर बनते तो भवसिन्धु

* पं०—संत अनंत=संत जो अनन्त हैं। संत 'अनन्त प्रिय' अर्थात् परमप्रिय हैं।

† 'तत्त्वन्न जानन्ति परात्मनस्ते जनाः समस्तास्तव माययातः। त्वद्भक्तसेवाऽमलमानसानां विभाति तत्त्वं परमेकमैशम्॥' (अ० रा० १५। ६०) अर्थात् आपकी मायासे मोहित होनेके कारण सब लोग आपके परमात्मस्वरूपका तत्त्व नहीं जानते अतः जिनका अन्तःकरण आपके भक्तोंकी सेवाके प्रभावसे निर्मल हो गया है उन्हींको आपका परमेश्वररूप भासता है।

भँवरके भ्रमर न होते। *'अति दीन मलीन दुखी.......'*, यथा—*'कह हनुमंत बिपति प्रभु सोई। जब तव सुमिरन भजन न होई॥'*]

३ *'अति दीन मलीन दुखी.......'* इति। (क) अति दीन हैं अर्थात् खाने-पहननेको अन्न-वस्त्र अच्छी तरह नहीं मिलता, इसीसे मलिन हैं अर्थात् पाप करते हैं और पाप करनेसे नित्य दुःखी रहते हैं। अथवा, (ख) *'पदपंकज प्रीति नहीं'* इति। भाव कि प्रीति नदी है, यथा—*'प्रभुपद प्रीति सरित सो बही'*—(सुं०)। उस प्रीतिके न होनेसे मलिन रहते हैं, मलिनता बहने नहीं पाती।

४ *'अवलंब भवंत कथा.......'* इति। भाव कि संत-भगवंत प्रिय होनेसे संतोंसे भगवान्‌की कथा सुनते हैं, बिना सत्सङ्गके हरिकथा नहीं होती, यथा—*'बिनु सत्संग न हरिकथा तेहि बिनु मोह न भाग।'* (६१) इसीसे कथावलम्बीको संत प्रिय हैं। भगवान्‌की उपासना करते हैं, उनकी कथा सुनते हैं, इसीसे भगवान् उनको प्रिय हैं।

नोट—☞ *'मनजात किरात निपात किए'* से *'अति दीन मलीन दुखी नितही'* तक श्रीरामपद-विमुखोंकी दशा कही और *'अवलंब भवंत कथा जिन्हके'* से *'सब संत सुखी.......'* तक श्रीरामभक्तोंके आचरण और सुख कहते हैं। वह दुःखी, मलिन और भवमें पड़े हैं और ये सुखमय हैं।

छं०—नहिं राग न लोभ न मान मदा, तिन्ह के सम बैभव वा बिपदा।
एहि ते तव सेवक होत मुदा, मुनि त्यागत जोग भरोस सदा॥७॥
करि प्रेम निरंतर नेम लिए, पद पंकज सेवत सुद्ध हिए।
सम मानि निरादर आदरही, सब संत सुखी बिचरंति मही॥८॥

अर्थ—उनके न राग (वस्तुमें प्रेम) है न लोभ (किसी वस्तुके प्राप्तिकी इच्छा) न अभिमान है न मद। उनको सम्पत्ति और विपत्ति दोनों एक-से हैं। इसीसे आपके सेवक आनन्दित होते हैं, मुनि योगका भरोसा सदा छोड़ते हैं और आपका सदैव भरोसा रखते हैं॥ ७॥ प्रेम करके निरन्तर नेम लेकर सदा प्रेमसे शुद्ध हृदयसे चरणकमलकी सेवा करते हैं। निरादर और आदरको समान मानकर सब संत आनन्दसे पृथ्वीपर विचरते हैं॥ ८॥

टिप्पणी—१—*'नहिं राग न लोभ.......'* इति। (क) प्रथम कथाका अवलम्ब कहकर तब राग-लोभादिका न रहना कहा, क्योंकि कथाके श्रवण करनेसे ये नहीं रह जाते। जो प्राप्त है उसमें राग नहीं, जो नहीं प्राप्त है उसका लोभ नहीं। मद १८ प्रकारके हैं, इनमेंसे इनमें कोई मद नहीं है। जाति, विद्या आदि अपनेमें परिपूर्ण तथा उत्तम मानकर अन्तरमें हर्ष करना 'मद' है। जाति-विद्यादिसे लोकमें बड़ाईकी चाहसे प्रसिद्ध व्यापार मान है। (वै) (ख) *'तिन्हके सम बैभव वा बिपदा'*, यथा—*'सुख हरषहिं जड़ दुख बिलखाहीं। दोउ सम धीर धरहिं मन माहीं॥'* (अ० १५०) (ग) अनन्तप्रिय हैं, भगवान्‌की मूर्ति स्थापित किये हैं। संत प्रिय हैं, उनकी सेवा करते हैं, उनके मुखसे कथा सुनते हैं। मदादि हृदयमें नहीं हैं। सम्पत्ति-विपत्ति समान हैं—ये सब गृहस्थ संतके लक्षण हैं।

नोट—*'नहिं राग न लोभ'* में गीताके '**उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते। गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते।**' (१४। २३) का भाव आ जाता है। भाव कि आत्मदर्शनसे तृप्त होनेके कारण वे आत्माके सिवा अन्यत्र उदासीनके सदृश स्थित रहते हैं, इच्छा और द्वेषरूप गुणोंके द्वारा विचलित नहीं किये जा सकते। गुण अपने-अपने प्रकाश आदि कार्योंमें वर्त रहे हैं ऐसा समझकर वे चुप रहते हैं, गुणोंके कार्योंमें अनुरूप चेष्टा नहीं करते।

'तिन्ह के सम बैभव वा बिपदा' में गीताके ('**समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः। तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः॥**') (१४। २४) का भाव आ जाता है। भाव कि केवल एक आत्मा ही उसका प्रिय होनेसे आत्मासे अतिरिक्त पुत्रादिके जन्म-मरणादि, ऐश्वर्यकी प्राप्ति वा हानि इत्यादि रूप सुख-दुःखमें समचित्त हैं, इसी कारण वे मिट्टी, पत्थर, लोहा, सोना सबको समान समझते हैं और इसी कारण वे प्रिय और अप्रिय विषयोंको भी समान समझनेवाले हैं, धीर हैं।

टिप्पणी—२ (क) *'एहि ते तव सेवक होत मुदा'* इति। *'एहि ते'* अर्थात् जो ऊपर कह आये—*'अवलंब भवंत कथा जिन्हके।'* से *'तिन्हके सम बैभव वा बिपदा'* तक। कथा और संत दोनों सुख देते हैं। कथा-श्रवणसे सुख होता है, यथा—*'तात स्वर्ग अपवर्ग सुख धरिय तुला इक अंग। तूल न ताहि सकल मिलि जो सुख लव सतसंग।'* (५। ४), *'एहि बिधि कहत राम गुन ग्रामा। पावा अनिर्बाच्य बिश्रामा॥'* (५। ८। २), *'रामचंद्र गुन बरनै लागा। सुनतहि सीता कर दुख भागा॥'* (५। १३),*'सुनत बिमल गुन अति सुख पावहिं। बहुरि बहुरि करि बिनय कहावहिं॥'* (२६। ६) संतके मिलनेसे सुख होता है, यथा—*'संत मिलन सम सुख जग नाहीं।'* (१२१। १३) [ख *'मुनि त्यागत जोग भरोस'* इति। यहाँ 'योग' ज्ञान-विज्ञानादि सबका उपलक्षक है। (पं० रा० व० श०)]

३ (क) *'करि प्रेम निरंतर नेम लिए'* अर्थात् जितना भजनका नियम है उसमें अन्तर नहीं पड़ता, उतना नियम प्रेमसे नित्य करते हैं। *'पद पंकज सेवत सुद्ध हिये'* अर्थात् ज्ञानका भरोसा छोड़कर आपकी उपासना करते हैं शुद्ध हृदयसे अर्थात् सब विकारोंको छोड़कर। (ख) *'सम मानि निरादर आदर ही·········'* इति। विचरणसे आदर और निरादर होता है, कोई आदर करता है, कोई निरादर। दोनोंको सम माननेसे सुखी हैं। [भाव कि मानापमान देहका है और वे अपनेको देहसे पृथक् समझते हैं। (पं० रा० व० श०)] ☞ *'बिचरंति मही'* कहकर सूचित करते हैं कि ये संत निवृत्तिमार्गवाले हैं। [रा० प्र०—जड़भरत, शुकदेवजी, ऋषि शृङ्ग, अष्टावक्रादि सब सुखी विचरते हैं, अत: *'सब संत·········'* कहा। दु:खका हेतु राग-द्वेष है सो ये उसे अपने हृदयसे दूर किये हुए हैं।]

पां०—संत अनन्त प्रिय हैं अत: उन्होंने उनका अवलम्ब दिया है। यह कहकर यहाँ अब बताते हैं कि वे संत कैसे हैं।

नोट—*'सम मानि निरादर आदरही'* में गीताके **'धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुति:।'** (१४। २४) तथा **'मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयो:।'** (२५) का भाव है। अर्थात् प्रकृति और आत्माके विवेकमें कुशल होनेसे वे अपनी निन्दा-स्तुतिमें समभाववाले होते हैं। भाव कि आत्मामें मनुष्यत्वादिका अभिमान करनेसे होनेवाली गुण और अवगुणनिमित्तक स्तुति और निन्दासे अपना कोई सम्बन्ध न समझकर समचित्त रहते हैं तथा उससे होनेवाले मानापमानमें तथा उससे होनेवाले शत्रु-मित्रके पक्षमें भी अपना सम्बन्ध नहीं समझते।

'करि प्रेम निरंतर नेम लिये·········' में गीताके **'मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते। स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते॥'** (१४। २६) का भाव है। अर्थात् ऊपर जो गुण बताये हैं उनका प्रधान उपाय यह है कि वे अव्यभिचारी भक्तिसे शरणागतवत्सलताके समुद्र सत्यसंकल्प परमदयाल भगवान्‌की सेवा करते हैं, जिससे यथार्थस्वरूपसे स्थित अमृत अव्यय आत्माको प्राप्त हो जाते हैं।—यही भाव *'करि प्रेम·········सेवत सुद्ध हिये'* में है।

छं०—मुनिमानसपंकजभृंग भजे, रघुबीर महारनधीर अजे।
तव नाम जपामि नमामि हरी, भवरोग महागद* मान अरी॥ ९॥
गुन सील कृपा परमायतनं, प्रनमामि निरंतर श्रीरमनं।
रघुनंद निकंदय द्वंद्व घनं, महिपाल विलोकय दीन जनं॥१०॥

* १—रा० गु० द्वि०, भा० दा०, पं०, का० १८४२ वाली प्रति और बं० पा० का यही पाठ है। १८१८ और १८१७ में 'महामदमान अरे' पाठ है।

गौड़जी—इस प्रसंगमें अधिकांश पुरानी प्रतियोंमें 'महागद' पाठ मिलता है और प्रामाणिक कुछ छपी पोथियोंमें और कुछ पुरानी पोथियोंमें प्राय: महामद पाठ मिलता है। अर्थ दोनोंका बहुत अच्छा और सुसंगत है। यह निश्चय करना बड़ा कठिन है कि मानसकारका शुद्ध पाठ क्या है। 'ग' और 'म' दोनों अक्षरोंके लिखनेमें इतना थोड़ा अन्तर है कि कागजका कीड़ा आसानीसे 'ग' का 'म' और 'म' का 'ग' कर सकता है और लिखनेवाले दोनों तरहके अर्थोंके सुसंगतिके

शब्दार्थ—गद=विष, रोग। (श० सा०)। '**असाध्यः कुरुते कोपं प्राप्ते काले गदो यथा।**'—(आप्टे कोश)। **अगद**=ओषध। **महागद**=महा अगद।=महौषध।

अर्थ—रघुवंशी वीर, रणमें महाधीर और अजेय (किसीसे न जीते जानेवाले) होकर भी आप मुनियोंके मनकमलके भ्रमर होकर उनको भजते हैं, अर्थात् उनके प्रेमके वश होकर उनके हृदय-कमलमें वास करते हैं। हे हरि! मैं आपका नाम जपता हूँ और आपको प्रणाम करता हूँ। आप (एवं आपका नाम) भवरोगकी महान् औषधि हैं (वा भवरोगरूपी महारोगके और मानके शत्रु हैं॥ ९॥ आप गुण, शील और कृपाके परम स्थान हैं, श्रीपति हैं, आपको निरन्तर प्रणाम करता हूँ। हे रघुकुलके आनन्द देनेवाले! मेरे द्वन्द्वसमूहका नाश कीजिये। हे महिपाल! दीन जनकी ओर देखिये। भाव कि कृपावलोकनसे द्वन्द्व नाश होते हैं। दुष्टोंको मारकर दीनोंपर कृपा करना महिपालका धर्म है)॥ १०॥

टिप्पणी—१ (क) '*मुनि मानस पंकज*……' इति। मुनि शुद्ध हृदयसे भगवान्‌को भजते हैं, इसीसे भगवान् उनको भजते हैं—उनके हृदयमें वास करते हैं—'**ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्**'—(गीता)। यथा—'*ते दोउ बंधु प्रेम जनु जीते। गुरुपद पदुम पलोटत प्रीते॥*' (१। २२६) (ख) '*भवरोगमहागद*……' इति। इस लोकमें रावण महारोग था, यथा—'*दससीस बिनासन बीस भुजा। कृत दूरि महा महि भूरि रुजा॥*' उसका आपने नाश किया और परलोकमें भव महारोग है उसके भी आप नाशक हैं। '*मान अरी*' का भाव कि मान भवरोगका मूल है, यथा—'*संसृति मूल सूलप्रद नाना। सकल सोकदायक अभिमाना॥*' तात्पर्य यह कि आप कारण और कार्य दोनोंके नाशक हैं।

'*तव नाम जपामि*', यथा—'**अहं भवन्नाम गृणन् कृतार्थो वसामि काश्यामनिशं भवान्या। मुमूर्षमाणस्य विमुक्तयेऽहं दिशामि मन्त्रं तव रामनाम॥**' (अ० रा० १५। ६२) अर्थात् आपके नामोच्चारणसे कृतार्थ होकर मैं अहर्निश पार्वतीसहित काशीमें रहता हूँ और वहाँ मरणासन्न पुरुषोंको उनके मोक्षके लिये आपके तारकमन्त्र रामनामका उपदेश करता हूँ।

(ग) '*गुन सील कृपा परमायतनं*' अर्थात् आपमें गुण, शील और कृपा अत्यन्त है। गुणोंका उल्लेख मूलरामायणमें है। गुण, शील और कृपाका वर्णन करके पीछे यह बात कही कि आपके गुणादिका वर्णन कोई कहाँतक करेगा, आप तो तीनोंके स्थान हैं।

पं० रा० व० श०—उपक्रममें 'रमारमण' और उपसंहारमें 'श्रीरमण' दोनों शब्द परात्पर तत्त्वके द्योतक हैं। महारणधीर, यथा—'**रामः शस्त्रभृतां वरः**' इति। (वाल्मी० रा०)

कारण कीड़ेकी इसलाहको भी कबूल करनेमें आनाकानी नहीं कर सकते। 'भवरोग महामद मान अरी' का अन्वय 'भवरूपी महारोग, महामद और महामानके अरी' इस प्रकार होगा। 'भवरोग महामद मान अरी' का अन्वय 'भवरूपी महारोगके महा-अगद और मानके अरि' यों होगा। जहाँ मद पाठ है वहाँ अर्थ यह होगा कि 'हे हरि आपके नामको जपता हूँ। आपको नमस्कार है जो आप भवरोग महामद-महामानके महा-अरि और हरण करनेवाले हैं।' यहाँ महारोगका हरण करना हरिका काम है और महामद महामानके आप शत्रु हैं—यह भाव है। इस पाठमें अधिक विशेषता 'हरि' की है।

गौड़जी—अर्थ इस प्रकार होगा—'हे हरि! तुमको नमस्कार है। मैं तुम्हारा नाम जपता हूँ जो नाम संसाररूपी महारोगको दूर करनेके लिये महा-अगद अर्थात् महौषध है और मानका शत्रु है। यहाँ 'महा' शब्द दीपदेहरी न्यायसे 'रोग' और 'अगद' दोनोंके लिये प्रयुक्त हुआ, परंतु 'मान' और 'अरि' शब्दोंपर उसका प्रभाव नहीं पड़ता। परंतु जहाँ 'मद' पाठ लेते हैं वहाँ विशेषण 'महा' सभी शब्दोंमें लग सकता है। अर्थकी दृष्टिसे दोनों पाठोंमें ऐसा कोई तारतम्य नहीं है कि एकको दूसरेपर श्रेय दिया जाय। अनुप्रासकी दृष्टिसे 'गद' से 'मद' अच्छा है, परंतु अनुप्रासकी कीमत बहुत थोड़ी है। 'गद' पाठ लेनेमें एक सौष्ठव यह है कि महारोगके लिये महौषध भी चाहिये और रामनाम महौषध है। यहाँ 'अगद' की अच्छी सुसंगति है। एक और विचारसे 'महागद' को हम श्रेष्ठता दे सकते हैं। 'गद्' वाणी या बोलनेके अर्थमें आता है। इस तरह 'महागद' शब्दका अर्थ महावाक्य भी है और इसलिये कि इस प्रसंगमें भवरूपी महारोगके लिये रामनाम महावाक्य ही महौषध दिखाया गया है, यह भी अर्थ कर सकते हैं कि रामनाम 'महा+गद' (महावाक्य) भवरूपी महारोगके लिये 'महा+अगद' (महौषध) है। मेरे निजी मतसे यह अर्थ सौष्ठव होनेसे 'महागद' पाठ ही समीचीन जान पड़ता है।

बाबा रामकुमारदास—'श्रीरमनं' इति। 'श्री' नाम प्रथमका नाम श्रीजानकीजीका है। लक्ष्मीजीका यह नाम बहुत पीछे हुआ। आ० रा० में इसकी कथा यों है—शतकोटिरामचरित पहले तीन लोकोंमें बँटा। भूलोकके भागमेंके फिर सात भाग सप्तद्वीपके लिये हुए। तब ४२ श्लोक बचे जो ब्रह्माजीने व्यासजीके पास भेजे, जिसके आधारपर श्रीमद्भागवत रचा गया। फिर जम्बूद्वीपके भागमेंके नौ भाग नवखण्डके लिये हुए तब 'श्री' यह एक अक्षर बच रहा—इसे लक्ष्मीजीने लिया, तबसे 'श्री' उनका नाम हुआ।—'**शेषमेकमक्षरं श्रीरिति सर्वत्र विष्णुना।**' वाल्मीकिजीने जानकीजीके विषयमें कहा है—'**श्रियः श्रीश्च भवेदग्र्या**.........' अर्थात् लक्ष्मीजीको भी ये श्रियत्व देनेवाली हैं। हारीतजी कहते हैं कि श्रीरमणसामर्थ्य रामजीहीमें है—'**श्रियो रमणसामर्थ्यात्।**' '**श्रीराम**' इस नामकी निरुक्तिहीसे श्रीरमयितृत्व रघुनाथजीमें जैसा उत्पन्न हो रहा है वैसा दूसरे नामोंमें नहीं। '**श्रियं रमयतीति रामः।**' नारायणादि नामोंकी निरुक्तिसे श्रीरमणत्व बोधन नहीं होता। ....अतः श्रीसाकेताधीशका ही ज्ञापक '**श्रीरमण**' पद है। उपक्रमस्थ '**रमारमण**' का सम्बन्ध इस उपसंहारोक्त '**श्रीरमण**' पदसे है।*

रा० प्र०—'**द्वंद्व घनं**'=द्वन्द्वसमूह। सुख-दुःखादि द्वन्द्वरूपी मेघ। भाव कि द्वन्द्वरूपी बादलोंने ज्ञानसूर्यको छिपा दिया और मनचन्द्रको मलिन कर दिया है।

दो०—बार बार बर मागौं हरषि देहु श्रीरंग।
पद सरोज अनपायनी भगति सदा सतसंग॥
बरनि उमापति रामगुन हरषि गए कैलास।
तब प्रभु कपिन्ह दिवाए सब बिधि सुखप्रद बास॥ १४॥

शब्दार्थ—**रंग**=रंजन करनेवाले, रमानेवाले, पति। **अनपायिनी**=जिसका अपाय अर्थात् वियोग कभी न हो=अविरल सदा एकरस हृदयमें रहनेवाली।

अर्थ—हे श्रीपते! (आपके) चरणकमलोंकी अविनाशिनी अटल भक्ति और निरन्तर सत्संगका वरदान आपसे बारंबार माँगता हूँ, आप प्रसन्न होकर दीजिये। श्रीरामचन्द्रजीके गुणोंका हर्षपूर्वक वर्णन करके उमापति महादेवजी प्रसन्न होकर कैलासको गये तब प्रभुने वानरोंको सब प्रकार सुख देनेवाले निवास-स्थान दिलाये॥ १४॥

पां०—बार-बार माँगनेसे दाताको संकोच होता है, इसीसे 'श्रीरंग' कहकर माँगा। अर्थात् आप सम्पूर्ण ऐश्वर्यके स्वामी हैं, सब दे सकते हैं।

टिप्पणी—१ (क) सत्सङ्ग और भक्ति दोनों दुर्लभ हैं, यथा—'*सतसंगति दुर्लभ संसारा।*' (१२३। ६), '*सब ते सो दुर्लभ सुरराया। रामभगतिरत गत मद माया॥*' (५४। ७) इसीसे '*बार बार*' माँगते हैं। (ख)—भगवान् अपनी भक्ति नहीं देते, यथा—'*प्रभु कह देन सकल सुख सही। भगति आपनी देन न कही।*' (८४। ४), '**मुक्तिं ददाति कर्हिचिन्नहि भक्तियोगम्।**' इति (भागवत) इसीसे कहते हैं कि '*हरषि देहु*'।

शीला—'*श्रीरंग*' में भाव यह है कि त्रिलोकमात्र हम सब श्रीके रंगमें रँगे हैं और आप ऐसे अत्यन्त सुन्दर और ऐश्वर्यवान् हैं कि श्री स्वयं आपके रंगमें रँगी हैं।

पं०—'*बार बार बर माँगउँ*' इति। यहाँ बार-बार=प्रतिदिन, दिन-दिन। वा, बार। बार-बार=रोम-रोमसे।

☞भक्ति माँगकर सत्सङ्ग माँगनेके भाव कि—(क) भक्तिका कारण सत्संग है, बिना सत्संग भक्ति नहीं मिलती, यथा—'*बिनु सत्संग न हरिकथा*', '*बिनु सत संग न पावहिं प्रानी।*' (ख) भक्तिका बाधक काम है, कामका बाधक सत्संग है।

नोट—श्रीपरीक्षित् महाराजने भी अपने यहाँ आये हुए ऋषिसमाजसे ऐसी ही प्रार्थना की है। यथा—'**पुनश्च भूयाद्भगवत्यनन्ते रतिः प्रसङ्गश्च तदाश्रयेषु। महत्सु यां यामुपयामि सृष्टिं मैत्र्यस्तु सर्वत्र नमो**

* यह लेख बहुत बड़ा था, अतः पूरा नहीं दिया गया।

द्विजेभ्यः॥'(भा० १। १९। १६) अर्थात् हे द्विजगण! मैं आप लोगोंको पुनः प्रणाम करके यही प्रार्थना करता हूँ कि दूसरे जन्ममें भगवान् अनन्तके चरणोंमें मेरा दृढ़ अनुराग हो तथा उनके भक्त महात्माओंसे मेरा संग रहे (और मैं जिस-जिस योनिमें जाऊँ वहीं सारे जगत्‌में मेरा मैत्री-भाव हो)।

अ० रा० में इस भावके श्लोक परशुरामकृत रामस्तवमें भी आये हैं। यथा—'**अतस्त्वत्पादयुगले भक्तिर्मे जन्मजन्मनि। स्यात्त्वद्भक्तिमतां सङ्गोऽविद्या याभ्यां विनश्यति॥**' (१। ७। ४२) '**यदि मेऽनुग्रहो राम तवास्ति मधुसूदन। त्वद्भक्तसङ्गस्त्वत्पादे दृढा भक्तिः सदास्तु मे॥**' (१। ७। ४८) अर्थात् जन्म-जन्मान्तरमें आपके चरणयुगलमें मेरी भक्ति हो और मुझे आपके भक्तोंका संग हो; क्योंकि इन्हीं दोनों साधनोंसे अविद्याका नाश होता है॥ ४२॥ हे मधुसूदन राम! यदि आपकी मुझपर कृपा है तो मुझे सदा आपके भक्तोंका संग रहे और आपके चरणकमलोंमें मेरी सुदृढ़ भक्ति हो॥ ४८॥

पं० रा० व० श०—'*भगति सदा सतसंग।*' भक्ति मिल जानेपर भी यदि सत्संग न रहा तो उसके लोप हो जानेका भय है। सत्संग भजनका उत्साह नित्य नवीन बनाये रखता है, क्योंकि वह भजनकी महिमा, नामका महत्त्व इत्यादि बराबर जनाता रहता है। पुनः, यदि सत्संग प्राप्त हुआ पर उसका फल भक्ति न मिले, तो वह सत्संग भी किस कामका? अतः भक्ति और सत्संग दोनों माँगे।

टिप्पणी—२ (क) '*हरषि गए*' पदसे सूचित किया कि श्रीरामजीने अपनी अनपायिनी भक्ति शिवजीको दी, इसीसे शिवजी हर्षित हो गये।*—[खर्रा—यहाँ वर देना मानसिक जानना। लीलाके अनुरोधसे प्रत्यक्ष नहीं कहा।] (ख)—'*तब प्रभु*……।' अभिषेक हो चुका, स्तुतियाँ हो चुकीं, अब वास देनेका समय है अतः अब वास दिलाये। (ग)—'*सब बिधि सुखप्रद*' अर्थात् तीनों काल, सब ऋतुओंमें सुखद और सब पदार्थोंसे परिपूर्ण। '*तब प्रभु कपिन्ह दिवाए*' रामायणोंमें प्रथम वास दिलाना कहा गया है, पर गोस्वामीजी आते ही तिलकका सामान कराते हैं, तिलकके कार्यमें सब लग जाते हैं, इसीसे वास मिलना न कहा था। अब वास मिला तब कहा।

नोट—वाल्मीकीयमें केवल 'सुग्रीव' का नाम लेकर उन्हें ठहरानेके लिये कहा गया है। यथा—'**यच्च मद्भवनं श्रेष्ठं साशोकवनिकं महत्। मुक्तावैडूर्यसङ्कीर्णं सुग्रीवाय निवेदय॥**' (१३१। ४५ च० सं०) अर्थात् अशोकवाटिकावाले मेरे विशाल सर्वोत्तम भवनमें जिसमें मोती, पन्ने आदि मणियाँ जड़ी हैं ले जाकर सुग्रीवजीको ठहराओ। अ० रा० में ऐसा ही है जैसा मानसमें। उसमें श्रीरामजीके ये वचन हैं—'**सर्वसम्पत्समायुक्तं मम मन्दिरमुत्तमम्।**' (१५। ३१), '**मित्राय वानरेन्द्राय सुग्रीवाय प्रदीयताम्। सर्वेभ्यः सुखवासार्थं मन्दिराणि प्रकल्पय।**' (३२) मेरा सर्वसम्पत्तियुक्त श्रेष्ठ महल मेरे मित्र वानरराज सुग्रीवको दो तथा और सबके लिये भी सुखपूर्वक रहने योग्य महल बताओ। श्रीरघुनाथजीकी आज्ञा पाकर भरतजीने वैसा ही किया। 'सुखप्रद' ही अ० रा० का '**सुखवासार्थं**……' है। '*सुखप्रद*' का भाव कि जिसमें सुखकी सब सामग्री थी और जो सब ऋतुओंमें सुख देनेवाला था। क्योंकि इन सबोंको गर्मी, वर्षा और जाड़ेका भी कुछ काल यहीं बीतेगा। यदि एक ही ऋतुमें सुख देनेवाला महल देते तो समझा जाता कि अधिक ठहरानेकी रुचि नहीं है।

पां०—'*तब प्रभु कपिन्ह दिवाए*……' इति। इससे पाया जाता है कि जिस समय वेद और शिवजी स्तुति करनेको आये थे उस समय रघुनाथजीका चित्त कपियोंकी आगत-स्वागतमें लगा था, इसीसे महादेवजीने छन्दमें कहा था कि '*बिलोकय दीनजनं*' अर्थात् दुःखियोंकी ओर भी देखिये।

नोट—यहाँ वानर, ऋक्ष और राक्षस सभी हैं। केवल '*कपिन्ह*' इससे कहा कि राक्षस तो इने-गिने हैं और ऋक्षोंकी भी कपि संज्ञा है। 'कपि' शब्द यहाँ सबका उपलक्षक है।

प० प० प्र०—शम्भुकृत स्तुति एक्कीसवीं है और एक्कीसवाँ नक्षत्र उत्तराषाढ़ा है। रत्नमालाग्रन्थमें '**ऋक्षैः विप्रतिमैरिभस्यरदनं**' में तीन तारे और हाथीके दाँतके समान आकार कहा है। इस स्तुतिमें भजे, '*नमामि*'

* मा० म०—'हर्षित' से जनाया कि वर मिला। 'उमापति' से जनाया कि ब्याहकी इच्छा जो स्तुतिके आरम्भमें प्रकट की थी वह भी वर पाया। सत्संग जो माँगा वह ब्याहहीको सूचित करता है, क्योंकि ब्याह होनेपर सत्संग रहेगा।

और *'जयामि'* तीन तारे हैं। गजको अपना संरक्षण करनेका प्रबल साधन दन्त ही होता है और भगवान्‌का भजन, नमन और नाम-जप करनेसे कोई भी (पामर जीव भी) अपना इह-पर-संरक्षण कर सकता है। संरक्षण अर्थका शब्द 'पाहि' भी इस स्तुतिमें तीन बार मिलता है। इस नक्षत्रका देवता विश्वेदेव है। **'सर्वदेवमयो गुरुः'** और शिवजीको तो *'त्रिभुवन गुरु बेद बखाना।'* शिव-कृपा बिना रामकृपा या रामभक्तिकी प्राप्ति भी नहीं हो सकती। इस नक्षत्रकी फलश्रुति है *'सेवत सुलभ सुखद हरिहर से'* और इस स्तुतिमें मुख्य सिद्धान्त यही है कि श्रीरामजीकी सेवा करनेसे सुखकी प्राप्ति होती है, यथा—*'एहि ते तव सेवक होत मुदा। मुनि त्यागत जोग भरोस सदा॥ पद पंकज सेवत सुद्ध हिये।''''''''सब संत सुखी बिचरंति मही।'* शिवजी (हर) ही इस स्तुतिके वक्ता हैं। उनकी कृपासे सेवत सुलभ और सुखद 'हरि' हो जाते हैं। स्तुतिका नक्षत्र नामसे साम्य होता है, पर अभीतक निःसंशय निश्चित न होनेसे नहीं लिखा।

प० प० प्र०—*'तब प्रभु कपिन्ह''''''''* ' इस चरणमें १२ मात्राएँ हैं। छन्दोभंग करके जनाया कि निवास-स्थान मिलनेपर सबको निश्चय हो गया कि अब तो कुछ काल यहाँ निवासका सौभाग्य प्राप्त हो गया। भगवान्‌को भी आनन्द हुआ कि सब सखा अब कुछ कालतक विश्राम करेंगे।

सुनु खगपति यह कथा पावनी। त्रिबिधताप भव भय दावनी॥ १॥
महाराज कर सुभ अभिषेका। सुनत लहहिं नर बिरति बिबेका॥ २॥

अर्थ—हे गरुड़! सुनो, यह कथा पवित्र है, तीनों प्रकारके तापों और भवके भयकी नाशक है॥ १॥ महाराज रामचन्द्रजीका कल्याणकारी राज्यतिलक सुनते ही मनुष्य वैराग्य और विवेक पाते हैं॥ २॥

नोट—१ (क) *'सुनु खगपति'* से इसे भुशुण्डि-गरुड़-संवादकी कथा सूचित की। पूर्व भी कहा है *'सुनु खगेस तेहि अवसर ब्रह्मा सिव मुनि बृंद। चढ़ि बिमान आये सब सुर देखन सुखकंद॥'* (११), *'वह सोभा समाज सुख कहत न बनइ खगेस॥'* (१२), *'बैनतेय सुनु संभु तब आए जहँ रघुबीर।'* (१३) (ख) *'यह कथा पावनी'* यह फलश्रुति भुशुण्डिजीकी कही है। भाव यह है कि रामकथा तो सभी पावनी है, यथा—*'पावन गंग तरंग मालसे।'* (१। ३२। १४) पर सारी कथा न कह-सुनकर यह राज्याभिषेकका ही प्रसंग कहे वा सुने तो इतनेसे भी वही फल मिल जायगा। पावनीसे स्वयं पावन और वक्ता-श्रोताको भी पावन करनेवाला जनाया। जैसे सब रामचरित त्रिविधताप और भव-भयका नाशक और वैराग्य आदिका प्रापक है, यथा—*'समन पाप संताप सोक के।'* (१। ३२। ५) *'बिबुधबैद भव भीम रोग के।'* (१। ३२। ३) *'करौं कथा भव सरिता तरनी।'* (१। ३१। ४), *'सदगुन ग्यान बिराग जोग के।'* (१। ३२। ३), *'पुनि बिबेक पावक कहुँ अरनी।'* (१। ३१। ६) वैसे ही यह प्रसंगमात्र यह सब कार्य कर देता है।

टिप्पणी—१ ☞ यहाँ माहात्म्य लिखनेका भाव एक तो यह है कि यह (राज्याभिषेक) प्रसंग यहाँ समाप्त हुआ, इससे यहाँ इसका माहात्म्य लिखते हैं। दूसरा अभिप्राय यह है कि वाल्मीकीयमें और अध्यात्ममें युद्धकाण्डकी समाप्ति यहींपर की है, उस भावको दरसानेके लिये यहाँ फलश्रुति लिखते हैं।

मा० हं०—अध्यात्मकार और वाल्मीकिजीने युद्धकाण्डमें ही श्रीरामजीका मुख्य अवतार-चरित यानी राज्याभिषेक-वर्णन पूर्ण कर दिया। बाद उन्होंने सीतात्यागसे लगाकर श्रीरामनिर्याणतकका उत्तररामचरित्र उत्तरकाण्डमें दिया। इस उत्तर रामचरितको गोसाईंजीने बिलकुल स्पर्श ही नहीं किया। कदाचित् यह भाग उनको, प्रेमीभक्तजनोंके हृदयको दुखानेवाला, रसका विरस करनेवाला और सामान्यतः लोकशिक्षाकी दृष्टिसे विशेष उपयोगी न होनेवाला ही जान पड़ा हो। इसलिये उन्होंने लंकाकाण्डमें एक केवल लंकाका ही सम्बन्ध रखनेवाला रामचरित्रका भाग देकर रामराज्याभिषेक और रामराज्यवैभवको ही अपने उपयोगका समझा है और इस भागको अपना उत्तर रामचरित्र ठहराया है। इस उत्तरचरित्रमें रामगीताकी जगह देवस्तुति, रामस्तव और काकभुशुण्डि-गरुड़संवाद स्वतंत्र रीतिसे जोड़ दिये गये हैं, जिससे उत्तरकाण्डकी योजना भक्ति-रसपोषक और शिक्षणोपयोगी हुई है। हमें ऐसा मालूम है कि गोसाईंजीके ध्येयकी दृष्टिसे उत्तरकाण्डसम्बन्धी उनकी कल्पना और उस प्रकारकी ही उनकी रचना निःसंशय बड़ी ही गम्भीर, उदात्त और सरस हुई है।

टिप्पणी—२ *'त्रिबिध ताप भव भय दावनी'* इति। अर्थात् इस शरीरमें त्रिताप (दैहिक-दैविक-भौतिक ताप) नहीं होने पाता और अन्तमें भवका भय नहीं होता। भव ही तीनों ताप देता है, इसीसे इनको रामकथा भस्म करती है। ३—जो यहाँ प्रथम कहा कि *'यह कथा'* पावनी है, उसका अर्थ दूसरी अर्धालीमें खोलते हैं कि जो राज्याभिषेककी कथा सुनते हैं उनको फिर दूसरी बात सुननेकी इच्छा नहीं होती, यह वैराग्यकी प्राप्ति होती है। ४—*'त्रिबिध ताप भव भय दावनी'*— इसीको चौथे चरणमें स्पष्ट करते हैं। त्रिताप और भवभय नाश करती है, विरति और विवेक देती है जिनसे ताप और भव नाश होते हैं।

खर्रा—*'सुनत लहहिं।'* *'सुनत'* से तात्कालिक फल सूचित किया। और 'मन्त्रादि अनुष्ठान-मंडल पूरे सिद्ध होनेपर फलप्रद होते हैं' (रा० प्र०)।

जे सकाम नर सुनहिं जे गावहिं। सुख संपति नाना बिधि पावहिं॥ ३॥
सुरदुर्लभ सुख करि जग माहीं। अंत काल रघुपति पुर जाहीं॥ ४॥

अर्थ—जो मनुष्य किसी कामनासे इसे सुनते हैं एवं जो कामनासे गाते हैं, वे (अर्थात् श्रोता और वक्ता दोनों) अनेक प्रकारका सुख और सम्पत्ति पाते हैं॥ ३॥ वे संसार (इस लोक) में देवताओंको भी दुर्लभ ऐसे सुख भोगकर अन्त समय श्रीरघुनाथजीके पुरको जाते हैं॥ ४॥

पं० रा० व० श०—सुख होनेपर अन्तमें दुर्गति होगी, इस शंकाके निवारणार्थ कहते हैं कि ऐसा नहीं है, वरन् इहलोकसुखके पश्चात् रामधाम पाते हैं। *'जाहीं'* से जनाया कि चाहे जहाँ रहें, वहाँसे साकेतको ही जायँगे। इस कथनसे नरकादिका निरास किया। भाव यह कि कथाके कथन वा श्रवणसे लोक-परलोक दोनोंका सुख प्राप्त हो जाता है।

टिप्पणी—१ *'जे सकाम नर सुनहिं जे गावहिं'* इति। (क) जो कामनासहित गाते हैं, यह कहकर सूचित किया कि इस प्रसंगका पाठ नित्य करे। (ख) *'सकाम'* कहकर जनाया कि जिनको प्रथम कह आये, वे निष्काम श्रोता हैं।* (ग)—*'सकाम'* कहकर दूसरे चरणमें कामनाओंको स्पष्ट करते हैं कि *'सुख संपति नाना बिधि पावहिं'*, सुनने या गानेसे सब कामनाएँ पूरी हो जाती हैं। सुख शरीरका है; क्योंकि भोगसे रोगका भय है—**'भोगे रोगभयम्'** (भर्तृहरि)। २—*'सुरदुर्लभ सुख करि जग माहीं।.........'* यह *'सुख संपति'* का अर्थ खोला। **'सुरदुर्लभ'**=वह सुख जो देवलोकमें नहीं है। रामकथाका गाना, सुनना यह सत्संग-सुख स्वर्गमें नहीं है। यथा—*'तात स्वर्ग अपबर्ग सुख धरिय तुला इक अंग। तूल न ताहि सकल मिलि जो सुख लव सतसंग॥'* (सुं०) शिवसनकादि भी पृथिवीपर अगस्त्यजीसे सत्संग करने आते थे। अन्तकालमें रघुपतिपुरको जाना यह भी देवताओंको दुर्लभ है।†

नोट—*'रघुपति पुर'* अर्थात् साकेतलोक, रामधाम। *'जग माहीं'* से इस जगत् एकपादविभूतिका सुख जनाया। प्रथम *'जग माहीं'* सुख कहकर *'रघुपति पुर'* को जाना कहा, इससे स्पष्ट किया कि *'रघुपति पुर'* इस एकपदविभूतिके बाहर है, जगत्से परे है। इससे यह भी सिद्धान्त कर दिया कि क्षीरसागर, वैकुण्ठादि *'रघुपति पुर'* नहीं हैं, क्योंकि वे तो एकपादविभूतिके भीतर हैं। पुनः, *'रघुपति'* माधुर्य नाम देकर उससे अयोध्या, साकेत इत्यादि नामक पुर निस्संदेह सूचित किया; क्योंकि रघुनाथजीकी पुरी अयोध्या छोड़ दूसरी है ही नहीं। इस लीलाविभूतिमें *'जन्मभूमि मम पुरी सुहावनि'* यही अयोध्या है और त्रिपादविभूतिमें भी अयोध्या ही रघुनाथजीका लोक है।

इस विषयमें वेदान्तशिरोमणि श्रीस्वामीरामानुजाचार्यजी (वृन्दावन) यों लिखते हैं—

---

* खर्रा—निष्काम-श्रवणको सब सिद्धिसाधनका साधन जनाया। सब सिद्धिके साधन वैराग्य और विवेक हैं, इनका भी साधन श्रवण है।

† वै०—दिव्य अन्न, खटाई, मिठाई, दुग्ध, दधि, घृत, पुत्र, पौत्रादि ये सुरदुर्लभ हैं।

प्रश्न—रामधाम, क्षीरसागर, वैकुण्ठ, महावैकुण्ठ कहाँ हैं? अयोध्या नित्य-नैमित्य दोनों यही है या पृथक्-पृथक्?

उत्तर—श्रीअयोध्या त्रिपादविभूति और लीलाविभूति दोनोंमें है। दोनों अयोध्या नित्य हैं। नारदपञ्चरात्रान्तर्गत बृहद्ब्रह्मसंहिता द्वितीयपाद सप्तमाध्याय श्लोक २ तथा तृतीयपाद प्रथमाध्यायके अनेक श्लोक इसके प्रमाण हैं। यथा—'**अयोध्या कोशले देशे सरयूपुलिने स्थिता। यत्र राजीवपत्राक्षो रामो दशरथात्मजः॥ व्यूहलोकात् परतरो विभवाख्यस्तु यः स्मृतः। वासुदेवो महाभाग तस्य लोकं वदामि ते॥ अयोध्याख्या पुरी चैका द्वितीया मथुरा स्मृता। मत्स्यादीनां तथा पुर्यः परितः सम्प्रकीर्त्तिताः॥ तत्रायोध्या पुरी रम्या यत्र नारायणो हरिः। रामरूपेण रमते सीतया परया सह॥**' (५१), '**वामाङ्गे जानकी देवी किशोरी कनकोज्वला। कैवल्यरूपिणी नित्यानित्यानन्दैकविग्रहा॥ सेयं सीता भगवती ज्ञानानन्दस्वरूपिणी। योगिनां रमणे रामे रमते रामवल्लभा॥**' (८३) '**रामाविर्भावसमये ह्याविर्भवति सर्वदा। निष्प्रपञ्चे निष्प्रपञ्चा निरीहात्मगुणक्रिया॥'''''''पूर्णरूपेण साकेते नित्यलीलारसोत्सुका। मया रामेण रमते क्षणविच्छेदकातरा॥**' (८८) '**साकेतकपुरद्वारसरयूकेलिकारिणी। कोटिगन्धर्वकन्याभिरालीभिर्भाति भागिनी॥**' (८९) '**कृतावतारः श्रीरामो ह्यनया केलिभूतया। नेष्यत्ययोध्यामखिलामनायासेन मत्पदम्॥**' यही रामधाम है।

वैकुण्ठ वह है जहाँ जय-विजयको शाप मिला, महावैकुण्ठ वह है जहाँ श्रीकृष्ण और अर्जुन मरे हुए ब्राह्मणपुत्रोंको लेने गये और क्षीरसागर वह है जहाँ ब्रह्मादिक अवतारके लिये प्रार्थना करते हैं।* ये तीनों लीलाविभूतिमें हैं। त्रिपादविभूति धाम तो '**विधिशिवसनकाद्यैर्ध्यातुमत्यन्तदूरम्**' इत्यादि—(श्रीयामुनमुनि-प्रणीतस्तोत्ररत्न) और श्रीभाष्यकाररामानुजस्वामिप्रणीत वैकुण्ठगद्य—'**विधिशिवादिवाङ्मनसाऽगोचरे श्रीमति वैकुण्ठे**' इत्यादि भी इसमें प्रमाण है। नारदपञ्चरात्रान्तर्गतबृहद्ब्रह्मसंहितातृतीयपादे प्रथमेऽध्याये

'अविद्यातिमिरं तीर्त्वा मद्भावमुपलभ्य च। मामुपैति महाभाग मदेकशरणागतः॥ ३८॥
स एतां त्रिगुणं मायामर्चिरादिगतिं गतः। भित्त्वा सकार्यामतिमान्यातिसत्त्वगुणास्पदम्।
नित्यमप्राकृतं धाम स्वप्रकाशमनामयम्। भक्त्यैकं लभ्यममलं कालप्रलयवर्जितम्॥
प्रधानपरमव्योम्नोरन्तरे विरजानदी। वेदान्तस्वेदजनिततोयैः प्रस्राविता शुभा॥
तस्यास्तीरे परव्योम त्रिपादभूतं सनातनम्।' इत्यादि।
'एवमादिगुणोपेतं तद्विष्णोः परमं पदम्। व्यूहलोकात्परतरो विभवाख्यस्तु यः स्मृतः॥
वासुदेवो महाभाग तस्य लोकं वदामि ते। अयोध्याख्यापुरी चैका द्वितीया मथुरा स्मृता॥'

---

* क्षीरसागर, भौम (महा) वैकुण्ठ और रमावैकुण्ठका वर्णन भा० १०। १। १९-२०, १०। ८९। ४७—५७, ५। २३। १ में क्रमसे यों है—

'ब्रह्मा तदुपधार्याथ सह देवैस्तया सह। जगाम सत्रिनयनस्तीरं क्षीरपयोनिधेः॥ १९॥
तत्र गत्वा जगन्नाथं देवदेवं वृषाकपिम्। पुरुषं पुरुषसूक्तेन उपतस्थे समाहितः॥' २०॥

देवोंके सहित ब्रह्माजीका क्षीरसागर जाना और अवतार धारण करनेके लिये प्रार्थना करना, यह सब एकपाद इस लीलाविभूतिमें ही होता है। त्रिपादविभूतिमें अर्चिरादि मार्गसे सुषुम्नानाड़ीद्वारा मुक्त होकर ही जानेका अधिकार है। कौषीतकी-उपनिषद्में विस्तारसे इसका वर्णन किया है—'इति सम्भाष्य भगवानर्जुनेन सहेश्वरः। दिव्यं स्वरथमास्थाय प्रतीचीं दिशमाविशत्' से श्लोक ५७ तक भौम वैकुण्ठधामका वर्णन है। इसके पश्चात् वैकुण्ठनाथसे नमस्कारपूर्वक सम्भाषण, ब्राह्मणपुत्रोंको लेकर द्वारकामें आगमन और अर्जुनका श्रीकृष्णमहिमासे विस्मित होना वर्णन है। यह वैकुण्ठ लोकालोकपर्वतके परे, तमसे परे, शुद्धोदके ऊपर है। 'रमावैकुण्ठ' के द्वारके समीप ध्रुवजीका निवास-स्थल है। 'अथ तस्मात्परतस्त्रयोदशलक्षयोजनान्तरतो यत्तद्विष्णोः परमं पदमभिवदन्ति यत्र ह महाभागवतो ध्रु''''''''''' इत्यादि भा० ८। ५ में रैवतमन्वन्तरके वर्णन-प्रसंगमें''''''''"पत्नी विकुण्ठा शुभ्रस्य वैकुण्ठैः सुरसत्तमैः। तयोः स्वकलया जज्ञे वैकुण्ठो भगवान् स्वयम्॥ वैकुण्ठः कल्पितो येन लोको लोकनमस्कृतः। रमया प्रार्थ्यमानेन देव्या तत्प्रियकाम्यया॥' ४-५॥ इत्यादि प्रमाणोंसे व्यक्त है कि विकुण्ठापुत्र भगवान् वैकुण्ठने लक्ष्मीजीकी प्रार्थनापर रमावैकुण्ठ प्रकट किया है। सनकादि ब्रह्मर्षियोंका वहाँ जाना और जय-विजयको शाप देना रमावैकुण्ठका वृत्तान्त है।

—इत्यादि उपर्युक्त प्रमाणोंसे त्रिपाद्‌विभूतिमें नारायणलोक, साकेतलोक, गोलोकादि अनेक लोक हैं। कहीं शङ्खचक्रादि आयुधधारी नारायणरूपसे, कहीं धनुषबाणधारी श्रीरामरूपसे, कहीं मुरलीमनोहररूपसे, कहीं नृसिंहादिरूपसे प्रभु विराजते हैं—'**यथा क्रतुरस्मिँल्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति**' इस श्रुतिप्रमाणसे '**तत्क्रतुन्याय**' अर्थात् जिस माधुर्यके उपासक भक्त हैं, उनको उसी रूपसे प्रभु साकेतादि लोकोंमें आनन्दानुभव कराते हुए नित्यसेवा प्रदान करते हैं। श्रीमर्यादापुरुषोत्तम सरकारके माधुर्यके उपासकोंको साकेतलोकमें श्रीरामरूपसे, श्रीलीला पुरुषोत्तम सरकारके माधुर्यके उपासकोंको गोलोकमें श्रीकृष्णरूपसे, इसी प्रकार उपासकोंके उपासनानुरूप फल प्रदान करते हुए सरकारके अनेक नाम, रूप, लीला और धाम हैं।

नोट—सि० ति० कारने उपर्युक्त लेखोंको संक्षिप्त रूपसे लेकर उसके पश्चात् यह लिखा है—'जो यहाँ जैसे परिकररूपसे भावना करता है, दिव्यविभूतिमें भी वह वैसे ही ब्रह्मके साथ क्रीड़ामें सम्मिलित रहकर दिव्य सुख पाता है; यथा—'**सोऽश्नुते सर्वान्कामान्सह ब्रह्मणा विपश्चिता।**' (तैत्ति० २। १); अर्थात् मुक्तात्मा परमात्माके साथ-साथ सब कामनाओंका भोक्ता होता है। यही सायुज्यमुक्ति है; यथा—'**सायुज्यं प्रतिपन्ना ये तीव्रभक्तास्तपस्विनः। किङ्करा मम ते नित्यं भवन्ति निरुपद्रवाः॥**' (नारदपञ्चरात्रपरमसंहिता); अर्थात् क्षुधा-पिपासा आदि उपद्रवोंसे रहित होकर ब्रह्मके साथ किंकरभावसे सब कामनाओंको भोगनेवाले सायुज्यमुक्त कहाते हैं। यही मुक्ति श्रीगोस्वामीजीको भी इष्ट है; यथा—'***खेलिबेको खगमृग तरु किंकर होइ रावरो राम हौं रहिहौं। येहि नाते नरकहुँ सचुपैहौं या बिनु परमपदहुँ दुख दहिहौं॥***' (वि० २३१) अर्थात् परमपद-(नित्यधामकी मुक्तावस्था-) में भी किंकरभावसे ही रहूँगा।'

सुनहिं बिमुक्त बिरत अरु बिषई। लहहिं भगति गति संपति नई॥५॥
खगपति रामकथा मैं बरनी। स्वमति बिलास त्रास दुख हरनी॥६॥
बिरति बिबेक भगति दृढ़ करनी। मोह नदी कहँ सुंदर तरनी॥७॥

अर्थ—जीवन्मुक्त, वैराग्यवान् और विषयी सुनते हैं तो भक्ति, गति और 'नयी सम्पत्ति' पाते हैं॥ ५॥ हे पक्षिराज गरुड़जी! मैंने अपनी बुद्धिके अनुसार रामकथा-वर्णन की जो त्रास और दुःखको हरने, वैराग्य, विवेक और भक्तिको अचल करनेवाली और मोहरूपी नदीके लिए सुन्दर नाव है॥ ६-७॥

टिप्पणी—१ '*सुनहिं बिमुक्त बिरत अरु बिषई।*.........' इति। (क) यहाँ यथासंख्य अलंकार है। विमुक्तको कुछ न चाहिये, इसीसे उसे भक्ति मिलती है, यथा—'***सुक सनकादि मुक्त बिचरत तेउ भजन करत अजहूँ।***' (वि० ८६) (ख) निष्काम विरति और विवेक पाते हैं, सकाम सुख सम्पत्ति पाते हैं, विमुक्त भक्ति पाते हैं, जब वैराग्य पाकर वैराग्यवान् सुनते हैं तब गति पाते हैं। पुनः, (ग)—विमुक्त उत्तम हैं सो भक्ति पाते हैं, विरक्त मध्यम हैं सो गति पाते हैं और विषयी निकृष्ट हैं सो सम्पत्ति पाते हैं। ['यद्यपि बीज एक ही है तथापि क्षेत्रगुण उपराज और-और भाँतिकी होती है, इस हेतु जीवोंके गुण-भेदसे भेद कहते हैं। (वै०) (घ)—'**संपति नई**'=दिन-दिन बढ़नेवाली]।

२—'***खगपति रामकथा मैं बरनी।***.........' इति। (क)—'***त्रास दुख हरनी***' अर्थात् लोक-परलोक दोनोंमें किसीका भय नहीं है न कोई दुःख है। '***त्रास***' अर्थात् गर्भवास चौरासी यमसाँसति इत्यादि। '***दुख***' आधिव्याधि, दरिद्र, जरा, प्रियवियोग इत्यादि। (वै०) (ख) '***स्वमति बिलास***' कहकर सूचित किया कि रामकथाका अन्त नहीं है, हमारी मतिका अन्त है। [पुनः **स्वमति बिलास**=अपने मतिके विलासहेतु (रा० प्र०)] (ग) '***बिरति बिबेक भगति दृढ़ करनी।***.........' इति। विरति, विवेक और भक्तिके इस क्रमका भाव कि प्रथम वैराग्य होता है तब विवेक होता है और तब भक्ति होती है। प्रमाण यथा—'***जानिय तबहि जीव जग जागा। जब सब बिषय बिलास बिरागा॥ होइ बिबेक मोह भ्रम भागा। तब रघुनाथ चरन अनुरागा॥***' (२। ९३। ४-५) '***दृढ़ करनी***' इति। प्रथम विवेक और विरतिका पाना लिखा, यथा—'***सुनत लहहिं नर बिरति बिबेका***', '***लहहिं भगति गति संपति नई।***' अब इनको दृढ़ करना कहते हैं (अर्थात् प्राप्ति ही नहीं

कर देती वरन् उनकी प्राप्ति होनेपर उनको अचल भी कर देती है)। (घ) *'सुंदर तरनी'* का भाव कि इसके होनेसे डूबनेका भय नहीं रह जाता। [*'मोह नदी'* का भाव कि यह विषयी जीवोंको डुबा देनेवाली है, पर वे भी यदि कथाका अवलंब लें तो सहज ही उसके पार हो जायँ। भाव कि इसके श्रवणमात्रसे मोहका नाश होता है। (वै०)] यहाँ 'परम्परित सम-अभेद-रूपक' है।

गौड़जी—*'सुनहिं बिमुक्त बिरत अरु बिषई। लहहिं भगति गति संपति नई॥'* इति। इस चौपाईमें पहले चरणमें १६ मात्राएँ हैं और पाठ निर्विवाद है। परंतु दूसरे चरणमें अन्तिम शब्द *'नई'* के होते केवल १५ मात्राएँ होती हैं। इस तरहका नियमभंग गोस्वामीजीकी रचनामें और कहीं नहीं है।* पढ़नेकी विधिमें पहले चरणमें शुद्धतापूर्वक १६ की १५ मात्राएँ नहीं हो सकतीं परंतु दूसरे चरणमें 'सम्पति' को 'सम्पत्ति' पढ़ें तो १६ मात्राएँ हो जाती हैं। इसमें भी दो आपत्तियाँ हैं—एक तो पाठमें जहाँतक मालूम है 'त' का द्वित्व नहीं है; दूसरे यह कि द्वित्व मानकर पढ़ लेनेसे गति-साम्यमें थोड़ा-सा अन्तर प्रतीत होता है। इसीलिये द्वित्वके साथ 'सम्पत्ति' को पढ़ना बहुत अच्छा पाठ नहीं प्रतीत होता। अब अर्थके ऊपर विचार करते हैं तो यथासंख्यालंकारके अनुसार विषयी जीवोंको जो सम्पत्ति मिलती है वह *'नई'* होती है। *'नई'* से क्या तात्पर्य है? पं० रामकुमारजी कहते हैं कि *'नई'* का अर्थ है 'दिन-दिन बढ़नेवाली'। यदि चौपाईमें 'नित्य' शब्द भी होता अर्थात् नित्य नयी संपत्ति पाते हैं, तो दिन-दिन बढ़नेवाली अर्थ करनेमें कोई कठिनाई न होती। परंतु मानसकारने नित्य शब्द नहीं दिया है और न *'नई'* शब्दको दोहराकर वाच्यार्थद्वारा ही यह सूचित किया है। *'नई'* का लक्ष्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ 'नित्य नए' होनेकी सूचना नहीं देता। अतः पं० रामकुमारजीकी व्याख्या असमर्थ है। विषयी जीवको *'नई संपति'* मिलती है, उस सम्पत्तिमें नयापन क्या है? इसमें व्यंजनाकी गुंजाइश है। विषयीके पास सम्पत्ति है जिसका वह भोग करता है। यह उसकी पुरानी सम्पत्ति है, उसे रामकथाके सुननेसे *'नई'* सम्पत्ति मिलती है, ऐसा मानसकारका कहना है। उसने यह स्पष्ट नहीं किया है कि वह नयी सम्पत्ति क्या है? विमुक्तको भक्ति मिलती है, वैराग्यवान्‌को सुगति मिलती है। रामकथा सुननेका तो यह फल बहुत सुन्दर है। उसीसे विषयीको यदि विषयोपभोगवाली सम्पत्ति मिली तो रामकथा सुननेमें और एक अभक्तिविषयक सुन्दर गाना सुननेमें क्या अन्तर रहा? जो नयी सम्पत्ति विषयी जीवको कथा सुननेसे मिलती है वह अवश्य विलक्षण होनी चाहिये और विषयीभोगसे परे भी होनी चाहिये—यह पाठकोंके लिये मननका विषय रखा गया है। मेरी समझमें वह *'नई संपति'* है श्रद्धा। उसके उत्तरोत्तर विकासकी नींव पड़ जाती है—'**श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानम्**।' इस नयी सम्पत्तिसे आगेके लाभके द्वार खुल जाते हैं, विषयभोगकी अनित्यता समझमें आ जाती है और उपासनाकी ओर प्रवृत्ति होती है।

अब इसके पाठान्तर *'नितई'* पर विचार करना चाहिये। *'नितई'* शब्द पुराने पाठका नहीं प्रतीत होता; परंतु आधुनिक पोथियोंमें यह पाठान्तर मिलता है। सम्भव है कि एक मात्राकी कमी देखकर *'नई'* की जगह *'नितई'* कर दिया गया हो। *'नितई'* शब्दका अर्थ यदि 'नित्य' ही किया जाय तो कोई विमुक्त नित्य ही भक्ति पावे और विरागी—नित्य ही गति पावे—इस तरहके अर्थमें कोई संगति नहीं है। सम्पत्तिके नित्य मिलनेमें विशेषता है; परंतु विषयी जीव सम्पत्ति पाकर अधिक विषयोपभोगमें लग जायगा और नित्य मिलनेसे उसकी भोगविलासकी आकांक्षा बढ़ती ही जायगी। इसलिये रामकथा सुननेका यह लाभ कुछ न हुआ। जीवके विकासक्रममें भारी हानि हुई। इसलिये 'नित्य ही' अर्थ करना अनर्थ होगा। *'नितई'* पाठ शुद्ध मान लेनेपर उसका अर्थ 'नित्य' करना चाहिये। भाव यह कि विषयीको रामकथा सुननेसे नित्य सम्पत्ति मिलती है, अनित्य नहीं। विषयोपभोगवाली सम्पत्ति अनित्य है, रामकथासे उसे विषयभोग क्षणभङ्गुर सम्पत्ति न मिलकर श्रद्धा और वैराग्यकी अथवा दैवीसम्पत्तियोंमेंसे कोई स्थायी सम्पत्ति मिलती है। *'नितई'* का 'नित्य' अर्थ करना मेरी रायमें क्लिष्टताके दोषसे मुक्त नहीं है और खींचातानी मात्र है।

* ऐसे उदाहरण और भी हैं—'सुनु खगपति……। त्रिबिध ताप भव भय दावनी॥' (१५। १) के दूसरे चरणमें १५ मात्राएँ हैं, इत्यादि। मात्राकी कमी करके इस कथाकी अलौकिकता और दिव्यतापर आश्चर्य-भाव प्रकट किया है। (प० प० प्र०)

वि० त्रि०—संसारमें तीन प्रकारके जीव हैं, यथा—'*बिषई साधक सिद्ध सयाने। त्रिबिध जीव जग बेद बखाने॥*' तो इस कथासे तीनोंका कल्याण होता है। विमुक्तसे यहाँ जीवन्मुक्त अभिप्रेत हैं। '*जीवन्मुक्त महामुनि जेऊ। हरिगुन सुनहिं निरंतर तेऊ॥*' उन्हें भक्तिकी प्राप्ति होती है। यथा—'**आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे। कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थंभूतगुणो हरिः॥**' यहाँ विरतसे साधकका ग्रहण है, उन्हें गति अर्थात् सिद्धि प्राप्त होती है और विषयी तो सदा सम्पत्तिके भूखे रहते हैं, उनका भी मनोरथ पूर्ण होता है, उन्हें ऐसी सम्पत्ति मिलती है, जो उन्हें रामपद-सम्मुख होनेमें सहायक हो। (क्योंकि '*जरउ सो संपति सदन सुख सुहद मातु पितु भाइ। सनमुख होत जो रामपद करइ न सहस सहाइ॥*) इसीलिये उस सम्पत्तिको नयी अर्थात् अपूर्व कहते हैं, पहिलेकी सम्पत्ति ऐसी नहीं थी।

नित नव मंगल कौसल पुरी। हरषित रहहिं लोग सब कुरी*॥ ८॥
नित नइ प्रीति राम पद पंकज। सब के जिन्हहिं नमत सिव मुनि अज†॥ ९॥
मंगन बहु प्रकार पहिराए। द्विजन्ह दान नाना बिधि पाए॥ १०॥

शब्दार्थ—कुरी=वंश, घराना, '*भइ आहाँ पद्मावति चली। छत्तिस कुरि भइ गोहन भली॥*'—(जायसी) विभाग। जाति—(मानसदीपिका)।

अर्थ—अयोध्यापुरीमें नित्य नये मङ्गलोत्सव होते हैं। सब जातिके लोग प्रसन्न रहते हैं॥ ८॥ श्रीरामचन्द्रजीके चरणकमलोंमें कि जिन्हें श्रीशिवजी, मुनिलोग और श्रीब्रह्माजी नमस्कार करते हैं, सबकी नित्य नवीन प्रीति है॥ ९॥ मँगताओंने बहुत प्रकारके पहरावे पाये और ब्राह्मणोंने अनेक प्रकारके दान पाये॥ १०॥

टिप्पणी—१ (क) राममन्दिरका मङ्गल कहकर अब पुरीका मङ्गल कहते हैं। श्रीरामजीके आगमनका राज्यमङ्गल-महोत्सव सब जातिवालोंके घर-घरमें होता है, इसीसे सब जातिके लोग हर्षित रहते हैं। हर्षित रहनेका हेतु आगे कहते हैं कि '*नित नइ प्रीति राम पद पंकज।*' (ख) '*नित नइ प्रीति*……' इति। भाव कि बिना रामपदप्रीतिके लोग दुःखी रहते हैं, यथा—'*अति दीन मलीन दुखी नितहीं। जिन्ह के पद पंकज प्रीति नहीं॥*' और इनकी नित्य नवीन प्रीति बढ़ती है, अतः ये सुखी हैं। पुनः भाव कि निष्काम श्रोता विरति-विवेक पाते हैं, इसी तरह सकाम, विमुक्त, मुमुक्षु और विषयीका सुख-सम्पत्ति भक्ति, गति और सम्पत्ति पाना कह आये—१५ (५—७) देखिये। अयोध्यावासी क्या पाते हैं यह यहाँ बताते हैं कि वे श्रीरामपद-पङ्कजमें '*नित नइ*' प्रीति पाते हैं। (ग) '*जिन्हहिं नमत सिव मुनि अज*' का भाव कि शिव, मुनि और ब्रह्मा—ये लोग तो अपने-अपने स्थानसे श्रीरामजीको नमस्कार करते हैं और अयोध्यावासी प्रत्यक्ष दर्शन करते हैं, इसीसे नित्यप्रति प्रीति नवीन होती है। [पुनः, 'नित्य नवीन प्रीति' बढ़ती है, यह कहकर '*जिन्हहिं नमत*……' कहनेका भाव कि वे इन चरणोंकी महिमा, इनका प्रताप और ऐश्वर्य जानते हैं, इसीसे '*नित नइ प्रीति*' होती है।]

२ '*मंगन बहु प्रकार पहिराए।*……' इति। (क) अवधवासी मङ्गल करते हैं, उन्होंने मँगताओंको बहुत प्रकारका पहिरावन पहिनाया, इत्यादि। (ख) [अ० रा० १६ में लिखा है कि लाख घोड़े, लाख कामधेनु-समान गौएँ, सौ-सौ बैलोंसमेत गौएँ और ३० करोड़ अशर्फियाँ दीं। यह सब '*नाना बिधि*' में आ गया। अन्य रामायणोंमें और भी भिन्न-भिन्न प्रकारसे दान देना कहा है। अतः कविने सबका मत रखनेके लिये '*नाना बिधि*' कहा। २—यहाँ यह न लिखकर कि किसने '*पहिराए*' या दान दिये, यह जनाया कि सभी दान दे रहे हैं, सभी मँगताओंको पहिरावा पहिनाते हैं]।

---

* मात्राकी न्यूनताका भाव कि ये दोनों बातें अलौकिक और असम्भव होनेपर भी श्रीअवधमें रामराज्यमें घटित हुईं।—'त्रेता भइ कृतजुग की करनी।' (प० प० प्र०)

† 'नमत जिन्हहिं संकर सिव मुनि अज'—(मा० म०) ☞ भरत-मिलाप-प्रसंगमें भी भरतजीके सम्बन्धमें भी ऐसा ही कहा है—'गहे भरत पुनि प्रभु पद पंकज। नमत जिन्हहि सुरमुनि संकर अज॥' (५। ६)

पं० रा० व० श०—यहाँ मँगनोंको पहिरावा और विप्रोंको दान देना कहा। कारण कि दान सुपात्रको ही देना चाहिये,जो दान सुपात्रमें दिया जाय वही दान है—'**यद्दीयते दान तथा सुपात्रे तत्सम्प्रदानं कथितं मुनीन्द्रैः।**'

'पाहुनोंकी बिदाई'—प्रसंग

दो०—ब्रह्मानंद मगन कपि सब के प्रभुपद प्रीति।
जात न जाने दिवस तिन्ह गये मास षट बीति॥ १५॥

अर्थ—सब कपि ब्रह्मानन्दमें मग्न हैं। सबका प्रभुके चरणोंमें प्रेम है। उन्होंने दिन जाते न जाना, छः महीने बीत गये॥ १५॥

टिप्पणी—१ ब्रह्मानन्दमें मग्न हैं। यह कहकर जनाया कि अहंता-ममतासे रहित हैं; क्योंकि बिना अहंममरहित हुए ब्रह्मानन्द नहीं प्राप्त होता, यथा—'***कबिहि अगम जिमि ब्रह्मकुल अहमम मलिन जनेषु***' (अ०)। श्रीरामजी ब्रह्मानन्दकी राशि हैं, यथा—'***मुनि मन मोद न कछु कहि जाई। ब्रह्मानंदरासि जनु पाई॥***' (२। १०६। ८) तात्पर्य कि श्रीरामजीका दर्शन ब्रह्मानन्द है, उस दर्शनानन्दमें मग्न हैं। '***सब के प्रभुपद प्रीति***' कहनेका भाव कि वानर लोग केवल ज्ञानियोंकी तरह ब्रह्मानन्दमें नहीं मग्न हैं वरन् सबकी प्रभुपदमें प्रीति है। [पुनः भाव कि ब्रह्मानन्दमें ध्याता, ध्यान और ध्येय तीनोंका ज्ञान नहीं रह जाता। इससे यह ब्रह्मानन्द रुक्ष है, वानरोंका ब्रह्मानन्द वैसा नहीं है क्योंकि सबके प्रभुपदप्रीति है। (पं० रा० व० श०)

२ '***जात न जाने दिवस तिन्ह।***' भाव कि—(क) ब्रह्मानन्दमें देहकी खबर नहीं रहती इसीसे दिन जाते न जाना, छः महीने बीत गये अर्थात् आश्विन बीत गया। चैत्र शुक्ल ५ को राज्याभिषेक हुआ था। (यह मत रा० प्र० का भी है। पुनः (ख) दिन जाते न जाना पर रात्रिका व्यतीत होना जाना क्योंकि यदि रात्रिका व्यतीत होना न जानें तो रात्रिका स्वप्न भी न जानेंगे और जो स्वप्न जानेंगे तो आगे '***बिसरे गृह सपनेहुँ सुधि नाहीं***' कैसे कहेंगे? [दिवस—दिन-रात दोनोंका उपलक्षक है। बोलचालमें भी ऐसा प्रयोग होता है।]

वि० त्रि०—'***राम ब्रह्म ब्यापक जग जाना।***' उन्हीं रामके प्रेममें कपि लोग मग्न थे, इसीलिये कहा कि '***ब्रह्मानंद मगन कपि।***' यहाँपर ग्रन्थकारने स्वयं कारणका भी निर्देश किया है कि '***सब के प्रभुपद प्रीति***' है। यथा—'***सेवक सुमिरत नाम सप्रीती। बिनु श्रम प्रबल मोह दल जीती॥ फिरत सनेह मगन सुख अपने। नाम प्रसाद सोच नहिं सपने॥***' स्नेहमग्न होनेसे उन्हें दिन-रातके आने-जानेपर ध्यान नहीं रहा। इसी भाँति छः महीने बीत गये। सुखमें दुःखका वेध होनेसे ही रात-दिनके बीतनेमें कठिनताका अनुभव होता है, और भक्ति तो 'निरुपम सुख संविदय रूप' है, उसमें मग्न पुरुषको रात-दिनके बीतनेका भान न होना ही प्राप्त है।

बिसरे गृह सपनेहुँ सुधि नाहीं। जिमि परद्रोह संत मन माहीं॥ १॥
तब रघुपति सब सखा बोलाए। आइ सबन्हि सादर सिरु नाए॥ २॥
परम प्रीति समीप बैठारे। भगत सुखद मृदु बचन उचारे॥ ३॥

अर्थ—उन्हें घर भूल गया, (जाग्रत्‌की कौन कहे) स्वप्नमें भी घरकी सुध नहीं आती जैसे कि संतके मनमें परद्रोह (की सुध कभी स्वप्नमें भी) नहीं आती॥ १॥ (जब छः मास बीत गये) तब श्रीरघुनाथजीने सब सखाओंको बुलाया। सबने आकर आदरसहित प्रणाम किया॥ २॥ बड़े प्रेमसे प्रभुने उनको पास बैठाया और भक्तोंको सुख देनेवाले कोमल वचन बोले॥ ३॥

टिप्पणी—१ '***बिसरे गृह सपनेहुँ सुधि नाहीं***' इति। (क) अब प्रभु वानरोंको घर भेजना चाहते हैं इसीसे वानरोंके मनसे घरका 'बिसरना' कहते हैं। (ख) '***सपनेहुँ सुधि नाहीं***' कहनेका भाव कि उनका दिन तो ब्रह्मानन्दमें व्यतीत होता है इसीसे घरकी सुधि नहीं होती और रात्रिमें शयन करते हैं तब स्वप्नमें भी घरकी सुध नहीं होती जैसे संतके मनमें परद्रोहकी सुधि नहीं होती। तात्पर्य कि जैसे परद्रोह भक्तिका बाधक है वैसे ही गृह भी बाधक

है। यथा—'*परिहरि लषन राम बैदेही। जेहि घर भाव बाम बिधि तेही॥*' (२। २८०। ४) (स्वप्नमें भी, अर्थात् कभी भी नहीं, किंचित् भी नहीं। यह मुहावरा है) यहाँ उदाहरण अलङ्कार है।

पं० रा० व० श०—'*बिसरे गृह..........।*' इस बहाने संतलक्षण भी कह दिया। जिनके मनमें अविद्याके कोई कार्य, जैसे कि परद्रोह, ईर्ष्या, काम, क्रोध इत्यादि न हों वे ही संत हैं। जिनके मनमें ये हों उनको उससे ग्लानि करनी चाहिये।

टिप्पणी—२ '*तब रघुपति सब सखा बोलाए..........*' इति। (क) वानर सीताशोधके लिये आश्विनमें घरसे निकले थे और यह दूसरा आश्विन हो गया। इस तरह वर्षभरमें वानर घरको बिदा किये गये। (ख) '*बोलाए*' से जनाया कि वे सब अपने-अपने निवास-स्थानपर थे, वहाँसे 'बुलाये गये' और '*बोलाए*' '*आइ सबन्ह..........*' साथ-साथ कहकर जनाया कि वानर लोग आज्ञा सुनते ही बहुत शीघ्र आये। '*सादर सिरु नाए*' अर्थात् मस्तक उनके चरणोंपर रखकर प्रणाम किया [रा० प्र०—सादरका अन्वय बुलाने, आने और सिर नवाने तीनोंमें है]।

३ '*परम प्रीति समीप बैठारे*' इति। (क) '*परम प्रीति*' का भाव कि श्रीरामजीकी प्रीति तो उनपर सदा ही है अब '*परम प्रीति*' हुई, क्योंकि वियोगका समय है, वियोग-समयमें प्रीति अधिक बढ़ जाती है। परम प्रीतिके कारण सबको समीप बिठाया। (ख) यहाँ रामजीका मन, वचन और तन तीनोंका वानरोंमें लगना दिखाते हैं—मनसे प्रीति की, वचन मृदु कहकर सुख दिया और तनसे समीप बैठाया।

वै०—यहाँ प्रभुका सौहार्द गुण दिखाया।

तुम्ह अति कीन्हि मोरि सेवकाई। मुख पर केहि बिधि करौं बड़ाई॥ ४॥
ताते मोहि* तुम्ह अति प्रिय लागे। मम हित लागि भवन सुख त्यागे॥ ५॥

अर्थ—तुमने मेरी अत्यन्त सेवा की, मुखपर किस प्रकार तुम्हारी बड़ाई करूँ (भाव कि मुखपर बड़ाई करना अनुचित है इसीसे मैं बड़ाई नहीं करता, केवल तुम्हारा और अपना प्रेम कहता हूँ)॥ ४॥ मेरे हितके लिये तुमने घरके सुख छोड़े। इसीसे तुम मुझे अत्यन्त प्रिय लगे॥ ५॥

टिप्पणी—१ '*तुम्ह अति कीन्हि..........*' इति। (क) ☞ श्रीरामजी सुकृतज्ञ हैं, यथा—'*त्यों न राम सुकृतज्ञ जे सकुचत सकृत प्रनाम किए हूँ।*' (वि० १७०) '*खग सबरि निसिचर भालु कपि किए आपु तें बंदित बड़े। तापर तिनकी सेवा सुमिरि जिय जात जनु सकुचनि गड़े॥*' (वि० १३५) इसीसे वानरोंका उपकार अपने मुखसे कहते हैं। (ख) '*अति सेवकाई*' का भाव कि और सब सेवकोंने '*सेवकाई*' की और तुमने '*अति सेवकाई*' की। पुनः ['*अति कीन्ह*' का भाव कि सेवाके लिये शरीर और प्राणकी भी कुछ परवा न की। शरीर बचाना छल है। '*अति प्रिय*' का भाव कि अनुज, राज इत्यादि ये सबसे प्रिय हैं, तुम इनसे भी प्रिय हो। (पं० रा० व० श०)]

२ '*भवन सुख*' कहनेसे समस्त सुख आ गये। अर्थात् भाई, राज्य, सम्पत्ति, स्त्री, देह, घर, परिवार, मित्र, पुत्र इत्यादि सब सुखोंका त्याग '*भवन सुख त्यागे*' से कह दिया। इन सबका सुख त्याग किया इसीसे आगे कहते हैं कि मेरे ये सभी नातेदार तुम्हारे बराबर मुझको प्रिय नहीं [पाँड़ेजी '*भवन सुख*' से 'सुखसे भरा हुआ घर' का अर्थ लेते हैं]।

अनुज राज संपति बैदेही। देह गेह परिवार सनेही॥ ६॥
सब मम प्रिय नहिं तुम्हहिं समाना। मृषा न कहउँ मोर यह बाना॥ ७॥
सब के प्रिय सेवक यह नीती। मोरे अधिक दास पर प्रीती॥ ८॥

अर्थ—भाई, राज्य, सम्पत्ति, वैदेही, अपना शरीर, घर, कुटुम्ब और मित्र—ये सब मुझे प्रिय हैं पर

* तातें तुम्ह मोहि—(का०)।

तुम्हारे बराबर नहीं। मैं झूठ नहीं कहता, यह मेरा स्वभाव है, टेक है, प्रतिज्ञा है॥ ६-७॥ यह नीति है कि सेवक सबको प्रिय होता है पर मेरा तो दासपर अधिक प्रेम रहता है॥ ८॥

टिप्पणी—१ सब भाई श्रीरामजीसे छोटे हैं इसीसे सबको **'अनुज'** कहा। राज=देश, मुल्क। सम्पत्ति=खजाना। वैदेही साक्षात् लक्ष्मी (एवं लक्ष्मीकी ही लक्ष्मी) हैं और सम्पत्ति लक्ष्मीका कटाक्ष है। देहके लिये गेह है, यद्वा जीवका घर देह और देहका घर गेह है। परिवार और स्नेही दोनों स्नेह करनेवाले हैं। [☞ अभी श्रीरामजीके पुत्र वा भतीजे नहीं हैं, इससे इनसे अधिक प्रिय न कहा। और माता, पिता तथा गुरुसे अधिक प्रिय किसीको न कहना चाहिये इससे उनका नाम न लिया। ८ (८) भी देखिये।]

२ (क) ***'सब मम प्रिय नहिं तुम्हहिं समाना'*** इति। वानरोंके समान कोई प्रिय नहीं है इसीसे राजसभामें जितने प्रिय हैं उन सबके मुखपर सबसे अधिक वानरोंको प्रिय कहा। यथा—***'मम हित लागि जनम इन्ह हारे। भरतहु ते मोहि अधिक पियारे॥'*** (८। ८) ***'ते भरतहि भेंटत सनमाने। राजसभा रघुबीर बखाने॥'*** (१। २९। ८) (ख) ***'मृषा न कहउँ'*** मैं झूठ नहीं बोलता, यह मेरा बाना है, यथा—**'अनृतं नैव रामस्य कदाचिदपि सम्मतम्। विशेषेणाश्रमस्थस्य समीपे स्त्रीजनस्य च॥'** इति वाल्मीकीये, तथा—**'रामो द्विर्नाभिभाषते।'** अथवा सबसे अधिक मेरे सेवक मुझे प्रिय हैं यह मेरा बाना है। पुनः ***'मृषा न कहउँ'*** कहनेका भाव कि तुम्हारी प्रसन्नताके लिये मैं ऐसी बात नहीं कहता, मैं सत्य कहता हूँ। ऐसा ही भा० ११ में उद्धवजीसे श्रीकृष्णजीने कहा है—**'न तथा मे प्रियतम आत्मयोनिर्न शङ्करः। न च संकर्षणो न श्रीर्नैवात्मा च यथा भवान्॥'** (१४। १५)

वि० टी०—ब्रह्मनारदीय पुराणमें इसी आशयके कृष्णजीके वचन ये हैं—**'न मे क्षीरोदतनया प्रिया नापि हलायुधः। न तथा देवकी देवी प्रद्युम्नो नास्ति सात्यकिः। यादृशा मे प्रिया भक्तास्तादृशो नास्ति कश्चन॥ येन मे पीडिता भक्तास्तेन हि पीडितः सदा॥'**

वीर—प्रथम एक विशेष बात कही कि तुम्हारे समान मुझे कोई नहीं प्रिय है, फिर इसका समर्थन सामान्य बातसे किया कि मेरी टेक है कि मैं झूठ नहीं बोलता, इतनेपर भी संतुष्ट न होकर फिर विशेष उदाहरणसे समर्थन करना कि ***'सबके प्रिय सेवक.........'*** 'विकस्वर अलङ्कार' है।

टिप्पणी—३ (क) ***'सबके प्रिय सेवक यह नीती.........।'*** इति। यथा—***'सुचि सुसील सेवक सुमति प्रिय कहु काहि न लाग। श्रुति पुरान कह नीति असि सावधान सुनु काग॥'***(८६) ***'एक पिता के बिपुल कुमारा। होहिं पृथक गुन सील अचारा॥'*** से ***'सत्य कहउँ खग तोहि सुचि सेवक मम प्रान प्रिय।'*** (८७) तक इसमें नीति कही है। (ख)—***'मोरे अधिक दास पर प्रीती।'*** अधिकमें भाव यह है कि सब लोग दासको सेवा करनेवाला मानते हैं और मैं अपने सेवकको प्राणसे भी अधिक मानता हूँ और स्वामी अपने सेवकपर क्रोध करते हैं पर मैं सेवकपर कभी क्रोध नहीं करता। यथा—***'साहिब होत सरोष सेवक को अपराध सुनि। अपने देखे दोष राम न कबहूँ उर धरे॥'*** (दो० ४७) ***'मैं जानउँ निज नाथ सुभाऊ। अपराधिहु पर कोह न काऊ॥'*** (२। २६०। ५)

पां०—भगवान्ने जो कहा कि तुम सबसे अधिक प्यारे हो उसका कारण यह न समझना चाहिये कि उन्होंने सहायता की है वरन् केवल दासत्व समझना चाहिये। दासत्वपर ममता है।

वै०—यहाँ प्रभुका भक्तवात्सल्य गुण दिखाया।

प० प० प्र०—सेवक और दासमें भेद है। सेवक स्वामीसे कुछ मिलनेकी आशा रखता है, दास केवल प्रेम चाहता है और प्रेम करता है। वेदस्तुतिमें यह भेद सूचित किया है!—***'बिस्वास करि सब आस परिहरि दास तव जे होइ रहे।'***

दो०—अब गृह जाहु सखा सब भजेहु मोहि दृढ़ नेम।
सदा सर्बगत सर्बहित जानि करेहु अति प्रेम॥ १६॥

अर्थ—अब सब सखाओ! अपने-अपने घर जाओ। अटल नियमसे मेरा भजन करना और मुझको

सदा सर्वव्यापक और सबका एवं सब प्रकार हितकारी जानकर अत्यन्त प्रेम करना एवं अत्यन्त प्रेमसे सबका हित करना॥ १६॥

वै०—*'अब'* का भाव कि मेरा यावत् कार्य था सो सब हो चुका, कुछ करनेको नहीं है, अतः अब जाओ।

टिप्पणी—१ वानरोंपर अपना अत्यन्त स्नेह कहकर तब घर जानेको कहा जिसमें वे उदास न हों। यदि भजनका नियम दृढ़ हो तो घर भजनका बाधक नहीं, यथा—*'घर कीन्हे घर जात है घर छाँड़े घर जाइ। तुलसी घर बन बीच ही रहौ प्रेमपुर छाइ॥'* इसीसे घर रहकर भजन करनेको कहा। हम तो अब अपने घर आ गये और गृहमें हैं वैसे ही तुम भी घरमें जाकर रहो। तुम्हारे परिवार तुम्हारे वियोगमें चिन्तित होंगे। हमारा कार्य हो जानेपर तुम यहाँ इतना रह गये।

पं० रा० व० श०—*'दृढ़ नेम'* का भाव कि शरीर कष्टमें भी हो तथा चाहे कैसा आवश्यक कार्य आ पड़े तो भी भजन न छोड़ना, एक बार भी आलस्य किया कि भजन गया। दृढ़ नेम चातक और चकोरका-सा होना चाहिये, उनके समान अनन्यतापूर्वक भजनमें मग्न रहना चाहिये।

पाँ०—घर जाकर भजनेको कहते हैं। भजन सेवाको कहते हैं। अतः इसमें सन्देह होता कि सेवा तो निकट रहनेसे होती है वहाँसे कैसे सेवा करेंगे? इसीलिये कहते हैं कि हम सबमें हैं, सर्वत्र हैं, तुम यदि वहीं रहकर सबका हित करोगे तो वह हमारी ही सेवा है। (इस प्रकार पाँड़ेजी *'सर्बहित'* भगवान्‌का विशेषण नहीं मानते। गौड़जीका भी यही मत है)।

गौड़जी—इस दोहेका अन्वय इस प्रकार होना चाहिये *'सब सखा अब गृह जाहु, मोहि दृढ़ नेम (करि) भजेउ। (मोहि) सदा सर्बगत जानि अति प्रेम (करि) सर्बहित करेहु'* इति। यहाँ सखाओंको सखाभावसे अनन्य भक्तिका उपदेश किया गया है। यद्यपि इस प्रसंगमें अनन्य शब्दकी परिभाषाका रूप नहीं। श्रीहनुमान्‌जीका दास्य भाव है। उन्हें मिलते ही श्रीमुखसे यह उपदेश हुआ है—*'सो अनन्य जाके असि मति न टरइ हनुमंत। मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत॥'* यह दास्यभावकी अनन्य भक्ति है। प्रस्तुत प्रसङ्गमें सख्यभावकी अनन्यभक्ति दरसायी गयी है। सखा या मित्र सबसे बड़ा हितैषी होता है—*'जे न मित्र दुख होहिं दुखारी।''''''''श्रुति कह संत मित्र गुन एहा'*—कि० ७ (१) से ७ (६) तक—इस प्रकार प्रभुका स्वयं वचन है। इन महावाक्योंका निचोड़ इस दोहेमें ध्वनित है। सबको सखा सम्बोधन करनेका अभिप्राय यह है कि तुम सब लोगोंसे मेरा सख्यका नाता है, सखा सखाका परमहितू होता है, मैं तुम्हें परमहितका उपदेश देता हूँ—दृढ़ नेमसे मुझे भजना। सखा कैसे भजेगा अब यह बतलाते हैं। अपने मित्रको प्रेमके साथ स्मरण करना भी सखाको भजना है। स्मरण करना भी सेवाका एक प्रकार है। फिर क्या केवल मनसे ही सेवा की जायगी? नहीं। वचन और तनसे भी। वह कैसे? मुझको सदा सर्वगत जानकर अर्थात् यह जानकर कि सभी मेरे सखा राम ही हैं, श्रीरामजीके सिवा दूसरा कोई है ही नहीं, इसलिये अत्यन्त प्रेमके साथ सबसे ही हितके वचन कहना और सबका परम हित करना यह वचनसे और तनसे सखा रामका भजन है। जब तुम सबमें मुझ सखाको ही देखोगे तो अन्यका भाव तुम्हारी दृष्टिसे उड़ जायगा और मैं-ही-मैं सर्वत्र दिखायी पड़ेगा। इस तरह वैरीसे भी तुमको प्रेम हो जायगा। जैसे तुम मुझसे शुद्ध प्रेम भाव रखते हो वैसे ही तुम प्राणिमात्रसे शुद्ध प्रेमभाव रखोगे और केवल यह भाव ही न रखोगे बल्कि जैसे अति प्रेमपूर्वक मेरा हित करनेके लिये अपने प्राणोंका बलिदान करनेको तुम तत्पर रहे हो वैसे ही सबके हितसाधनके लिये आत्म-बलिदानमें तत्पर रहोगे। प्रभुका यह उपदेश ठीक वैसा ही है जैसा दास्यभावके लिये हुआ था। वहाँ भी यही कहा गया है कि सचराचरको स्वामी समझकर सबकी सेवा करे; क्योंकि स्वामी सर्वरूप हैं। वहाँ रामस्वामी सदा सर्वगत हैं। यहाँ रामसखा सदा सर्वगत हैं। इससे अधिक कल्याणकारी क्या उपदेश हो सकता है। इसीलिये प्रभुके ये अन्तिम वचन हैं।

टिप्पणी—२ *'सदा सर्बगत'* यह ज्ञान कहा, *'जानि करेहु अति प्रेम'* यह प्रेम करनेको कहा। तात्पर्य कि बिना प्रेम ज्ञानकी शोभा नहीं है, यथा—*'सोह न रामप्रेम बिनु ज्ञानू।'* पुनः, *'सर्बगत सर्बहित'* कहनेका

भाव कि हमको एकदेशी न समझना। देश, काल, दिशा, विदिशा और वस्तु कोई भी ऐसी नहीं जहाँ हम न हों और चाहे जहाँ जो भी हो वहाँ यह विश्वास रखे कि हम उसका हित वहाँ कर सकते हैं और करेंगे।

३ ***'करेहु अति प्रेम'*** कथनका भाव कि जहाँ अति प्रेम है वहाँ हम अवश्य हैं। यथा—***'प्रेम ते प्रभु प्रगटइ जिमि आगी।'***

प० प० प्र०—***'सर्वहित'*** शब्द श्लिष्ट है, गीताके **'सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति'** का सार ***'सर्बहित जानि'*** में समाया हुआ है। ***'सर्बहित करेहु'*** में भाव यह है कि ऐसा करनेसे तुमको जगमें कुछ भी दुर्लभ नहीं होगा। यथा—***'परहित बस जिन्ह के मन माहीं। तिन्ह कहँ जग कछु दुर्लभ नाहीं॥'*** सर्वगत पूर्ववर्ती क्रिया है। इससे सूचित किया कि बिना यह जाने हुए कि प्रभु सर्वगत हैं उनमें प्रेम होना असम्भव है। यथा—***'बिमल ज्ञान जल जब सो नहाई। तब रह राम भगति उर छाई॥'*** [***'अति प्रेम'*** का भाव कि प्रिय परिजन परिवारसे भी अधिक समझना। (प० रा० व० श०)]

सुनि प्रभु बचन मगन सब भए। को हम कहाँ बिसरि तन गए॥ १॥
एकटक रहे जोरि कर आगे। सकहिं न कछु कहि अति अनुरागे॥ २॥
परम प्रेम तिन्ह कर प्रभु देखा। कहा बिबिध बिधि ज्ञान बिसेषा॥ ३॥

अर्थ—प्रभुके वचन सुनकर सब मग्न हो गये। हम कौन हैं, हम कहाँ हैं, सबको (यह) देहसुध भूल गयी॥ १॥ अत्यन्त प्रेम हो गया है इससे प्रभुके सामने हाथ जोड़े टकटकी लगाये देखते रह गये (पलकें नहीं गिरतीं)। प्रेमके मारे कुछ कह नहीं सकते (यद्यपि कहना चाहते हैं)॥ २॥ उनका अत्यन्त प्रेम देख प्रभुने अनेक प्रकारका विशेष ज्ञान कहा॥ ३॥

टिप्पणी—१ श्रीरामचन्द्रजीने वानरोंको अत्यन्त प्रेम करनेका उपदेश किया—***'करेहु अति प्रेम।'*** वानर प्रभुके वचन सुनकर तत्क्षण अत्यन्त प्रेममें मग्न हो गये कि हमारे स्वामी धन्य हैं कि हमको सबसे अधिक प्रिय मानते हैं। पुनः वियोग समझकर अत्यन्त प्रेममें मग्न हो गये। वियोग-समयमें प्रेम अधिक बढ़ जाता ही है। आगे प्रेमकी दशा कहते हैं—***'को हम।'*** २—***'परम प्रेम तिन्ह कर प्रभु देखा।'''''''''*** इति। (क) भाव कि परम प्रेमके कारण ये हमारा वियोग न सह सकेंगे, यह समझकर अनेक प्रकारका ज्ञान कहा। ज्ञानसे प्रेम निवृत्त हो जाता है और धीरज होता है। (ख) ***'बिबिध बिधि ज्ञान'*** कहनेका भाव कि प्रथम ज्ञान भी कहा था और प्रेम भी, यथा—***'सर्बगत सर्बहित जानि करेहु अति प्रेम'***; इतना कहनेसे प्रेम न निवृत्त हुआ तब अनेक प्रकारका विशेष ज्ञान कहा। [रा० प्र०—वेद-वेदान्तशास्त्रादिका ज्ञान कहा।]

पं० रा० व० श० १—***'परम प्रेम।'*** इसका लक्षण है कि जिसके बिना न रह सके—**'यद्बिना यन्न भवति।'** २—***'बिबिध बिधि ज्ञान''''''''''।'*** अर्थात् यह कि जन्म लेनेपर संस्कार साथ लग जाते हैं, संस्कारके अनुकूल ईश्वर प्रारब्ध भुगाता है, जीवका कर्तव्य है कि वह सदा उनका स्मरण करते हुए संस्कार भोगता जाय, हमसे वियोग कहाँ है, हम भीतर-बाहर सदा मौजूद हैं, हम परिच्छिन्न नहीं हैं।

वि० त्रि०—परम प्रेम अर्थात् भक्ति होनेसे ही तत्त्व-ज्ञानकी पात्रता होती है, यथा—**'भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।'** (भगवद्गीता) 'सरकारने जब उसका परम प्रेम देखा तो अपने तत्त्वज्ञानका उपदेश दिया। परम प्रेमको ही भक्ति कहते हैं, यथा—**'सा तस्मै परम प्रेमरूपा'** (नारदभक्तिसूत्र) **'सा परानुरक्तिरीश्वरे'** (शाण्डिल्यसूत्र)। ऐसी भक्ति होनेपर तत्त्व-ज्ञानकी पात्रता होती है। उस ज्ञानविशेषका वर्णन पहले हो चुका है, (यथा—***'सदा सर्बगत सर्बहित जानि करेहु अति प्रेम'***) अतः यहाँपर दोहराया नहीं।

प्रभु सनमुख कछु कहन* न पारहिं। पुनि पुनि चरन सरोज निहारहिं॥ ४॥
तब प्रभु भूषन बसन मँगाए। नाना रंग अनूप सुहाए॥ ५॥

* कहत=मा० म०। कहइ—१८१७, १८१८, का०। कहन—१८४२। भा० दा०।

अर्थ—प्रभुके सम्मुख कुछ कह नहीं सकते। बारंबार चरणकमलोंको देखते हैं (अपना आशय जनाते हैं कि चरणोंसे अलग न कीजिये)॥ ४॥ तब प्रभुने रंग-विरंगके सुन्दर उपमारहित भूषण-वस्त्र मँगाये॥ ५॥

पं० रा० व० श०—प्रभुने विशेष ज्ञानोपदेश किया पर प्रेमीको ज्ञानोपदेश कब भावे, उनके मनमें आता है कि कुछ कहें पर सम्मुख कुछ कहनेका साहस नहीं पड़ता। जब प्रभुने देखा कि ये न जायँगे और मर्यादा-पालनार्थ इनको विदा करना जरूरी है तब दूसरा उपाय किया।

टिप्पणी—१ *'प्रभु सनमुख·······'* इति। (क) *'प्रभु'* का भाव कि प्रभुकी आज्ञा होनेपर कुछ उत्तर न देना चाहिये इसीसे वानर लोग कुछ न कह सके, यथा—*'उतरु देइ सुनि स्वामि रजाई। तेहि सेवक लखि लाज लजाई॥'* (२। २६८। ५) (ख) चरण निहारनेका भाव कि हमें इन्हींका अवलम्ब है। दूसरा भाव यह कि आपने हमें ज्ञानोपदेश किया, हम आपके सम्मुख कुछ कह नहीं सकते कि हम तो पशु हैं, हम ज्ञानके अधिकारी नहीं हैं। बार-बार चरण निहारते हैं कि हमको इन चरणोंकी भक्ति दीजिये, इनको हमारे हृदयमें बसा दीजिये। (पं०) [आप ज्ञानोपदेश करते हैं, हम ज्ञान क्या जानें? इन चरणोंके सिवा हम कुछ नहीं जानते। हमें इनसे अलग न कीजिये। (पाँ०)]

२ *'तब प्रभु भूषन·······'* इति। *'तब'* अर्थात् जब वानरोंने प्रभुकी आज्ञा प्रधान रखी और घर जानेमें कुछ उज्र न किया। तब *'नाना रंग'* से सूचित किया कि भूषण अनेक रंगकी मणियोंसे जटित हैं। *'सुहाए'* से बनावकी सुन्दरता कही। *'अनूप'* से उसकी बड़ाई कही कि उपमा कहीं नहीं है।

गौड़जी—प्रभुके वचन सुनकर सुध-बुध भूल गये, परम प्रेमवश कुछ कह न सके। और ऐसा क्यों न हो? कहाँ इतने बड़े प्रभु कहाँ हम नीच पशु! हमारी ढिठाइयोंको सेवकाई मानकर अपनेको सेवकाईसे इतना एहसानमंद जताते हैं कि अपने आत्मीयोंसे भी हममें अधिक प्रेम करते हैं और दास मान करके भी सखाका इतना ऊँचा पद देते हैं—*'प्रभु तरुतर कपि डारपर ते किय आपु समान'* इतनी महती कृपापर वानर सुध-बुध क्यों न खो बैठें। कृतकृत्यताकी भी हद होती है, यहाँ वह हदसे बाहर हो गयी। तन और वचन तो क्या मन भी लज्जासे सम्मुख नहीं हो सकता। जब भरतजीकी हिम्मत नहीं पड़ती कि सामने जबान हिलावें और पड़े कैसे? वाणीकी क्या मजाल कि वहाँतक पहुँच सके—**'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह'** फिर इन बेचारे वानरोंकी क्या कथा है! प्रभुके सम्मुख वह जबान नहीं हिला सकते, निगाह उठाकर देख नहीं सकते—ऐसी बेबसीकी हालतमें चरण-शरणपर निगाह डालनेके सिवा क्या चारा है?

सुग्रीवहि प्रथमहि पहिराए। बसन भरत निज हाथ बनाए॥ ६॥
प्रभु प्रेरित लछिमन पहिराए। लंकापति रघुपति मन भाए॥ ७॥
अंगद बैठ रहा नहिं डोला। प्रीति देखि प्रभु ताहि न बोला॥ ८॥

अर्थ—श्रीभरतजीने अपने हाथसे बनाकर (सँवारकर) सुग्रीवको प्रथम ही वस्त्र पहिनाये॥ ६॥ (फिर) प्रभुकी प्रेरणासे विभीषणजीको लक्ष्मणजीने भूषण-वस्त्र पहिनाये जो रघुनाथजीके मनको अच्छे लगे॥ ७॥ अङ्गद बैठा रहा, जगहसे न हिला-डोला। उसकी प्रीति देखकर प्रभु उससे न बोले (एवं उसे न बुलाया)॥ ८॥

टिप्पणी—१ सुग्रीव प्रथम सखा हैं और भाइयोंमें प्रथम भरत हैं इसीसे सुग्रीवको प्रथम पहिनाया और भरतजीने पहनाया। विभीषण दूसरे सखा हैं और लक्ष्मण दूसरे छोटे भाई हैं अतः विभीषणजीको लक्ष्मणजीने पहनाया। इन दोनोंके पीछे अङ्गदकी बारी थी क्योंकि वे युवराज हैं, इनको शत्रुघ्नजी पहनाते पर अङ्गद अपनी जगहसे न हटे, बैठे ही रहे और उनका प्रेम देखकर श्रीरामजीने बुलाया नहीं।

२ *'रघुपति मन भाए'* भाव कि लंकापति भारी राजा है जिसके यहाँ मणिजटित मकान बने हैं उनको जो भूषण-वस्त्र पहनाये उन्हें देखकर रघुनाथजी प्रसन्न हुए। इस कथनसे सूचित किया कि भूषण-वस्त्र अद्भुत थे।—[रा० प्र० *'रघुपति मन भाए'* को लंकापतिका विशेषण मानता है।]

३ *'नहिं डोला'* भाव कि जब सुग्रीव और विभीषणको पहनाया तब इनको उठकर वहाँ जाना

चाहिये था पर ये न गये। *'प्रीति देखि प्रभु ताहि न बोला'* इति। भाव कि इसका हममें बहुत प्रेम है, हमसे विदा नहीं होना चाहता, इससे सबको विदा करके तब इसे समझावेंगे।

पां०—अङ्गदको न बुलाया कि इनकी प्रीति देखकर अन्य सब वानर भी प्रेमवश होकर न विदा होंगे। यह प्रभुका चातुर्यगुण दिखाया।

मा० म०—अङ्गदको इस निमित्त बैठे रहने दिया कि सबके सामने कहनेसे निरादर होगा और लज्जा भी होगी।

दो०—जामवंत नीलादि सब पहिराए रघुनाथ।
हिय* धरि रामरूप सब चले नाइ पद माथ॥
तब अंगद उठि नाइ सिरु सजल नयन कर जोरि।
अति बिनीत बोलेउ बचन मनहु प्रेमरस बोरि॥ १७॥

अर्थ—श्रीजाम्बवन्त और नीलादि सबको श्रीरघुनाथजीने वस्त्राभूषण पहिनाये। वे सब हृदयमें रामरूपको धारण कर चरणोंमें माथा नवाकर चले। तब अङ्गदने उठकर माथा नवाकर, नेत्रोंमें जल भरे हुए, हाथ जोड़कर, अत्यन्त नम्रतासे मानो प्रेमरसमें डुबाकर वचन कहे† ॥ १७॥

टिप्पणी—*'पहिराए रघुनाथ'* इति। सुग्रीव-विभीषणको भाइयोंसे पहनवाया और जाम्बवन्तादिको स्वयं पहिनाया; इसमें भाव यह है कि—(क) श्रीसुग्रीव और विभीषणजीको निष्कण्टक राज्य दिया इसीसे इनको भाइयोंसे पहनवाया। जाम्बवन्त-नीलादि वानरोंको कुछ नहीं दिया यद्यपि सब वानरोंने समान सेवा की है, इसीसे इनको रामजीने स्वयं पहिनाकर इन सबको प्रसन्न किया। (ख)—सुग्रीव और विभीषणको सबसे प्रथम पहनाया, यह दोनों राजाओंका आदर हुआ। जाम्बवन्तादिको रामजीने स्वयं पहनाया यह इन सबका आदर हुआ।

वै०—*'मोरे अधिक दासपर प्रीती'* का यहाँ चरितार्थ है। सुग्रीव और विभीषण राजा हैं, समीपी सखा हैं, मानके पात्र हैं, अतः इनपर साधारण प्रीति की। इसीसे भाइयोंसे पहिनवाया। जाम्बवन्तादि यूथपति हैं, इन्होंने अमानी दास हो शुद्ध सेवा की अतः इन्हें अपने हाथसे पहिराया।

टिप्पणी—२ *'हिय धरि रामरूप.........'* इति। (क) भाव कि बाहरसे रामरूपका वियोग होने ही चाहता है इसीसे हृदयमें संयोग किया कि सदा इसीका ध्यान बना रहे। (ख) *'चले नाइ पद माथ'* कहकर सूचित किया कि श्रीरामजी सब वानरोंको सखाभावसे आप ही भूषण-वस्त्र पहिनाते हैं पर वे आपको अपना स्वामी ही समझते हैं। इसीसे *'चले नाइ पद माथ'* कथनका आशय यह कि अपने-अपने भावमें सब सावधान हैं।

३ *'तब अंगद उठि नाइ सिरु.........'* इति। (क) तब अर्थात् अवसर समझकर कि अब सब चले गये तब। *'सजल नयन'* से भीतर-(अन्तःकरण-) का आर्त होना सूचित होता है और विनती करनेसे आर्त होना प्रकट देख पड़ता है। तात्पर्य कि अङ्गदजी भीतर-बाहर दोनोंसे आर्त देख पड़ते हैं। *'कर जोरि'* आगे विनती करना है अतः हाथ जोड़कर बोले। (ख) *'अति बिनीत'* इति। भाव कि सिर नवाकर हाथ जोड़कर विनीत हुए और वचन अति विनीत बोले।

पां—अङ्गदने विचारा कि यदि रघुनाथजीने मुझे प्रथम ही कह दिया कि तुम भी जाओ तो स्वामीकी आज्ञा भङ्ग करना कठिन हो जायगी, मुझे जाना ही पड़ेगा, इसलिये प्रथम स्वयं ही विनय की।—[किसीका मत है कि अङ्गद यहाँ चूक गये, उन्हें प्रभुने विदा करनेको पास बुलाया नहीं, ये स्वयं ही गये।]

नोट—*'जामवंत नीलादि सब'* में *'सब'* से सुग्रीव, विभीषण, हनुमान् और अङ्गदको छोड़कर अन्य

* हिय—(का०), हिए—(भा० दा०)।

† प्रेम कोई रस नहीं जिसमें डुबाया या साना जाय। अनुक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा है।

सब वानर और राक्षस सूचित किये। और *'हिय धरि रामरूप सब'* के 'सब' में सुग्रीव, विभीषणका भी साथ जाना पाया जाता है। उनके जानेपर अङ्गद उठे। पर आगे यह शङ्का होती है कि *'भरत अनुज सौमित्रि समेता। पठवन चले……'* और *'अति आदर सब कपि पहुँचाए। भाइन्ह सहित भरत पुनि आए॥'* इसका समाधान कैसे होगा? ये वचन तो अङ्गदकी विदाईके पीछेके हैं?' इसका समाधान यह है कि सब वानर विदा होकर चले और थोड़ी दूरपर अङ्गदकी राह देखने लगे जब वे भी आ मिले तब सब साथ-साथ चले और श्रीभरतादि पहुँचानेको भी साथ हुए।

पं० रा० व० श०—*'परम प्रेम तिन्ह कर प्रभु देखा', 'हिय धरि रामरूप सब चले नाइ पद माथ'* और आगे *'बिदा कीन्ह भगवान तब बहु प्रकार समुझाइ'* से सूचित करते हैं कि वानरोंको विदा होनेमें बड़ा कष्ट हुआ। वाल्मीकिजी लिखते हैं कि 'देही देहमिव त्यजन्' अर्थात् वानर ऐसे चले जैसे देही देहको छोड़कर जाता है।

प० प० प्र०—*'सुनि प्रभु बचन मगन सब भए'* से *'पहिराए रघुनाथ'* तक अभिजित् नक्षत्रकी स्तुति है। नित्यके धार्मिक व्यवहारमें अभिजित् नक्षत्रकी गणना नहीं है। पर ज्योतिष और धर्मशास्त्रमें कभी-कभी इसका विचार किया जाता है। उत्तराषाढ़ाके तीन अंश और बीस कलाएँ तथा श्रवणारम्भका ८००/१५ (=५३ $\frac{१}{२}$) कलाएँ मिलकर २५३ $\frac{१}{३}$ कलात्मक गिना जाता है। जैसे यह नक्षत्र २७ नक्षत्रोंमें प्रत्यक्ष नहीं है वैसे ही यह स्तुति भी प्रत्यक्ष शब्दोंमें नहीं है। यह भावमय निःशब्द स्तुति है।

इस नक्षत्रमें तीन तारे हैं। वैसे ही यहाँ सुग्रीव कपिपति, विभीषण लङ्कापति और जाम्बवान् ऋक्षपति तीन हैं। इस नक्षत्रका आकार शृङ्गाटकके समान है। शिंगोड़ा देखनेमें सुरूपवान् नहीं होता वैसे ही इन तीनोंका रूप सुन्दर नहीं है।

इस नक्षत्रके देवता सबसे बड़े विधि हैं, वैसे ही यहाँ उनके अवतार जाम्बवान् हैं। नक्षत्रकी फलश्रुति *'सुकबि सरद नभ मन उडगन से'* है। और यहाँ इनको प्रसादरूपमें फलस्वरूप वस्त्र और दिव्य आभूषण मिल रहे हैं। नभ वस्त्र हैं, उडगन मणिमय आभूषण हैं। शरद्-नभ सुहावना होता है वैसे ये वस्त्र-भूषण भी *'नाना रंग अनूप सुहाए'* हैं।

त्रिपाठीजीका क्रम यहाँसे एकदम निराला है। उन्होंने वसिष्ठमुनिकृत स्तुति आदि कई निर्मल उडुगणोंको छोड़ दिया है। कारण यह है कि शतभिषकका आधार-साम्य सनकादिकृत स्तुतिमें नहीं मिला। इसमें अनन्तवाची शब्द है पर उनका ध्यान उधर नहीं गया इससे अन्यत्र खोजना पड़ा। श्रीरामजीके समर-विजयके विधि (विधाता) सुग्रीव, विभीषण और जाम्बवान् ही तो हैं। यथा—*'ए सब सखा सुनहु मुनि मेरे। भए समर सागर कहँ बेरे॥'* इस प्रकार भी देवता-साम्य मिलता है। अभिजित् श्रवणका $\frac{१}{१५}$ वाँ भाग होता है वैसे ही श्रवण-स्तुति करनेवाले अङ्गदजी यहाँ बैठ रहे हैं—*'नहिं डोला।'*

सुनु सर्बज्ञ कृपा सुख सिंधो। दीन दयाकर आरत बंधो॥ १॥
मरती बेर* नाथ मोहि बाली। गएउ तुम्हारेहि कोछे घाली॥ २॥
असरन सरन बिरद† संभारी। मोहि जनि तजहु भगत हितकारी॥ ३॥

अर्थ—हे सर्वज्ञ! हे दया और सुखके सागर! हे दीनोंपर दया करनेवाले! दीनोंके लिये दयाकी खानि! हे आर्तजनोंके बन्धु (दुःखियोंके सहायक भाई)! सुनिये॥ १॥ हे नाथ! बाली मरते समय मुझे आपहीकी गोदमें डाल गया था॥ २॥ हे भक्तोंके हित करनेवाले! अपना अशरण-शरण बाना स्मरणकर मेरा त्याग न कीजिये॥ ३॥

टिप्पणी—१ ☞ प्रथम स्वामीकी बड़ाई करके तब अपना प्रयोजन कहते हैं। इसीसे बड़ाईके विशेषण अपने प्रयोजनके अनुकूल कहते हैं। (क)—*'सर्बज्ञ'* का भाव कि जो सर्वज्ञ है उससे मुखसे कहनेका प्रयोजन ही

* बार। † बिरुदु—(का०)। रा० प० टीकामें 'बेर' है।

क्या? आप मेरी सब व्यवस्था जानते ही हैं। (ख) श्रीरामजीमें पूर्ण गुण कहते हैं। सर्वज्ञसे जानकारी कही। जानकारी हो, पर दया न हो तो वह जानकारी व्यर्थ है, अत: कहा कि आप दयाके आकर हैं। दया भी है पर सुख नहीं दे सकते हो सो भी बात नहीं है आप सुखसिन्धु हैं, सब सुख दे सकते हैं। पुन: *'कृपा सुखसिंधो'* का दूसरा भाव कि सुख धर्मसे मिलता है सो आप कृपा करके देते हैं। [*'सुखसिंधु'* का भाव कि सिन्धुमेंसे कुछ निकाल भी लें तो भी वह घटता नहीं, किंतु निकल जाना उसे मालूम भी नहीं होता। वैसे ही आपकी कृपा और सुखके कणमात्रसे त्रिलोकी सुखी होता है। यथा—*'जो आनंदसिंधु सुखरासी। सीकर ते त्रैलोक सुपासी॥'* (१। १९५। ५) (रा० प्र०)] आप *'दीन दयाकर आरतबंधो'* हैं, मै दीन और आर्त हूँ, मुझपर दया और मेरी रक्षा कीजिये। [पं०—दीन इससे कि पिता मर चुका है।]

२ *'मरती बेर नाथ मोहि बाली·······।'* इति। (क)—*'मरती बेर'* का भाव कि अब मेरे पिता नहीं हैं, आप ही पिता हैं, मेरी रक्षा करनेवाले हैं। (*'कोछे डालना'* लोकोक्ति है, अर्थात् मेरा भरण-पोषण-रक्षा सब आपको ही सौंप गया, दूसरेको नहीं। यह भाव *'तुम्हारेहि'* का है। यही बात *'पिता बधे पर मारत मोही। राखा राम निहोर न ओही॥'* (४। २६। ५) से पुष्ट होती है)। (ख) *'असरन सरन बिरद संभारी'* इति। भाव कि मेरे न रखनेसे आपका विरद न रह जायगा। दीन, आर्त, अशरण, इनमेंसे एक दु:ख होनेपर भी आप कृपा करते हैं और मुझमें तो सब दु:ख है। मैं दीन हूँ, आर्त हूँ, अशरण हूँ।—(*'कोछे घाली'* को ही अशरण-शरण सम्बोधनसे स्पष्ट करते हैं। कोछेसे अब गिरा न दीजिये, शरण लेकर त्यागिये नहीं।) (ग) *'मोहि जनि तजहु'* तात्पर्य कि जब रामजीका रुख रखनेका न देखा तब ऐसा कहा।

पां०, वै०—*'भयहारी'* में भाव यह है कि मुझे सुग्रीवसे भय है। अपना हित किसीको नहीं देखते, अत: 'अशरण-शरण' कहा।

वीर—स्पष्ट शब्दोंमें न कहकर कि सुग्रीवको आपने राजा बनाया है, उसके वंशज राज्य करेंगे, मेरा वहाँ जाना व्यर्थ है; यों कहना कि आप अशरण-शरण हैं मेरा त्याग न कीजिये—'प्रथम पर्यायोक्ति अलङ्कार' है।

मोरे तुम्ह प्रभु गुर पितु माता। जाउँ कहाँ तजि पद जलजाता॥ ४॥
तुम्हहि बिचारि कहहु नरनाहा। प्रभु तजि भवन काज मम काहा॥ ५॥
बालक ज्ञान बुद्धि बल हीना। राखहु सरन नाथ* जन दीना॥ ६॥

अर्थ—आप ही मेरे स्वामी, गुरु, पिता और माता हैं तब इन चरण-कमलोंको छोड़कर मैं कहाँ जाऊँ?॥ ४॥ (यदि आप कहें कि घर जाओ तो) हे नृपति! आप ही विचारकर कहिये कि प्रभुको छोड़कर घरमें मेरा क्या काम है?॥ ५॥ मुझ बालक, ज्ञान-बुद्धि-बल-हीन और दीन सेवकको, हे नाथ! शरणमें रखिये॥ ६॥

टिप्पणी—१ *'मोरे तुम्ह प्रभु गुर पितु माता·······'* इति। (क) भाव कि औरोंके माता, पिता, गुरु और प्रभु पृथक्-पृथक् होते हैं, एक जगह निर्वाह न हुआ तो दूसरी जगह चले गये और मेरे तो सब कुछ आप ही हैं तब मैं कहाँ जाऊँ—[पां०—*'मोरे तुम्ह प्रभु·······'* से अङ्गदका तात्पर्य यह है कि जो वानर और ऋक्ष विदा किये गये उन सबके माता, पिता, गुरु और घर इत्यादि है पर मेरे तो यह सब एक आप ही हैं, दूसरा मेरा न प्रभु है, न पिता, न गुरु और न माता।]† (ख) *'जाउँ कहाँ।'* प्रथम कहा कि मेरा त्याग न कीजिये—*'मोहि जनि तजहु भगत हितकारी'*; जो कदाचित् आप त्याग दें तो कोई स्थान ऐसा नहीं जहाँ मैं जाऊँ। कोई हो तो आप ही बतावें। *'तजि पद जलजाता'* का भाव कि सेवक होकर रहना चाहते हैं इसीसे चरणोंका अवलम्ब कहते हैं। (ग) यहाँ क्रमसे उत्तरोत्तर बड़ा कहा है। तुम मेरे प्रभु हो, प्रभुसे बड़ा गुरु, गुरुसे बड़ा पिता और पितासे बड़ी माता है। *'गुरु'*—*'करत गुप्त परकास औ नित्य गुननको जौन। नमस्कार गुरुदेव को ताते गुरुतर कौन॥'* (रा० प्र०)]

* 'जानि जन दीना'—ना० प्र०। नाथ—१८१७, १८१८, १८४२, भा० दा०।

† यहाँ 'तृतीय तुल्ययोगिता अलङ्कार' है।

२ (क) *'नरनाहा'* का भाव कि आप राजा हैं, राज्यका हाल सब जानते हैं। अतः आप ही विचार करें। विचार करनेसे देख लेंगे कि घरमें मेरा कुछ काम नहीं है। (ख) पुनः ['नरनाह' सम्बोधनका भाव कि राजा राजाओंके व्यवहार और नीति जानते हैं। अतः आप स्वयं समझ सकते हैं कि एक राजपुत्र (अपने पिताके) वैरी राजाके आश्रित होकर कब सुखी रह सकता है—*'रिपु रिन रंच न राखब काऊ', 'बैरी पुनि छत्री पुनि राजा। छलबल कीन्ह चहइ निज काजा॥' 'पिता बधे पर मारत मोही।'* इसीलिये तो वाली मुझे आपकी गोदमें डाल गया था। (शीला, पाँ०)] *'प्रभु तजि भवन काज मम काहा'* इति। [रा० प्र०—*'प्रभु तजि'* में व्यङ्गसे ध्वनि यह भी है कि जब प्रभुत्व रहा ही नहीं तब घर किस कामका] भाव कि घर छोड़कर स्वामीकी सेवा करनी चाहिये, प्रभुको छोड़कर घर-सेवन करना यह विधिकी वामता है। यथा—*'परिहरि लखन राम बैदेही। जेहि घर भाव बाम बिधि तेही॥'* (२। २८०। ४)] पुनः, घरमें मेरा क्या काम है इसका भाव कि घरमें तो सुग्रीव राजा हैं ही, राज्यकाज करनेके लिये मन्त्री हैं, सेना है। मेरे बिना घरका कोई हर्ज नहीं है, आप विचार करें। (पां०)। पुनः भाव कि पिता मुझे सुग्रीवको न सौंपकर आपको सौंप गये। वे भी सुग्रीवसे सद्भावकी आशा नहीं करते थे तब आपकी सेवा तो उचित ही है। और घर, राज्य और माता सुग्रीवकी हैं, वे भी मेरे हित नहीं। घरपर कोई भी तो ऐसा नहीं है, जिसका कोई काम मेरे बिना अड़ा हो। (ग) तब घर किस लिये जाऊँ। (वै०)]

३ (क)—*'बालक ग्यान बुद्धि बल हीना.........'* इति। भाव कि आप माता-पिता हैं। मैं आपका बालक हूँ, मैं ज्ञान-बुद्धिहीन हूँ। आप मेरे ज्ञान और बुद्धिके दाता गुरु हैं, मैं बलहीन अर्थात् असमर्थ हूँ। आप मेरे पालनकर्ता प्रभु हैं और मैं *'जन दीन'* हूँ। आप दयाकर हैं मुझपर दया कीजिये। ☞शरणमें रखनेके जो लक्षण हैं वे सब अङ्गदने दिखाये—*'मरती बेर नाथ मोहि बाली। गएउ तुम्हारेहि कोछे घाली॥'* जो अपनी गोदमें है उसे शरणमें रखना ही चाहिये॥ २॥ आप अशरण-शरण हैं मुझे कहीं शरण नहीं है, अतः शरणमें रखिये॥ ३॥ आप भक्तहितकारी हैं, शरणमें रखनेसे मेरा हित होगा॥ ४॥ आप मेरे माता, पिता, गुरु और स्वामी हैं॥ ५॥ मैं बालक ज्ञान-बुद्धि-बल-हीन और दीन हूँ। शरणमें रखे जानेके योग्य हूँ।

पां०—*'बालक ग्यान बुद्धि बल हीना।'* भाव कि यदि आप कहें कि राज्य और माता-पिता किसीके सदा नहीं रहते तो मैं बालक हूँ मुझमें यह ज्ञान कहाँ? यदि आप कहें कि सुग्रीवसे मिलकर रहना तो मुझमें बुद्धि कहाँ? यदि आप कहें कि वह शत्रुभाव रखे तो तुम उससे लड़-भिड़ सकते हो, तो मैं बलहीन हूँ, मुझमें बल कहाँ?

नीचि टहल गृह कै सब करिहौं। पदपंकज बिलोकि भव तरिहौं॥ ७॥
अस कहि चरन परेउ प्रभु पाही। अब जनि नाथ कहहु गृह जाही॥ ८॥

अर्थ—घरकी सब नीच सेवा मैं करूँगा और पदकमल देखकर भवसागर पार हो जाऊँगा॥ ७॥ ऐसा कहकर अङ्गद प्रभुके चरणोंपर गिर पड़े और बोले कि हे प्रभो! मेरी रक्षा कीजिये! हे नाथ! अब न कहिये कि घर जा॥ ८॥

टिप्पणी—१ वालीने श्रीरामजीसे प्रार्थना की थी कि अङ्गदको अपना दास बनाइये, यथा—*'गहि बाँह सुरनरनाह आपन दास अंगद कीजिये'* (कि० १०)। इसीसे अङ्गदजी दासका काम करनेको कहते हैं। *'पद पंकज बिलोकि'* का भाव कि यह चरणकी सेवा मिलना मुझको दुर्लभ है, चरणके सेवक चरण-सेवा करते हैं, मैं उनका अधिकारी नहीं हूँ। अतः मैं चरणकमलका दर्शन ही करके भवसिन्धु पार हो जाऊँगा। ☞श्रीरामजीके घरकी नीच टहल और पदपंकजका दर्शन ये दोनों भवसागर पार करनेवाले हैं।

पां०—*'नीचि टहल गृह कै सब करिहौं।..........'* भाव यह कि राज्य तो वहाँ भी करना नहीं है, वहाँ भी रहना हुआ तो नीच टहल ही करनी पड़ेगी, सो मुझे यहींकी उचित है। यदि आप कहें कि यहाँ रहकर तुम बराबर हमसे राज्यके लिये कहा करोगे तो ऐसा न समझिये, मैं ऐसा कदापि न करूँगा, केवल आपके चरणोंका दर्शन करूँगा।

वीर—अङ्गदके वचनोंमें लक्षणामूलक गूढ़ व्यङ्ग है कि यहाँ नीच टहल करते हुए भी श्रीचरणकमलोंके दर्शन कर भव-पार पा जाऊँगा और किष्किन्धामें जाकर *'राज्यको दूसर खासर खूसा'* की भाँति जीवन व्यर्थ गँवाना पड़ेगा, स्वार्थ-परमार्थ दोनोंसे हाथ धो बैठूँगा। संसार तरनेकी इच्छासे तुच्छ टहलको गुण मानना 'अनुज्ञा अलङ्कार' है।

नोट—ठीक ही है। वेदोंने भी कहा है कि गृहकार्य पुरुषके सार (ज्ञान आदि) का नाश करनेवाले हैं—**'पुरुषसारहरावसथान्॥'** (भा० १०। ८७। ३५) इसीसे उसे *'नीचि'* कहते हैं। पर यदि वह टहल प्रभुकी हो जाय तो वह भगवत्कैंकर्य होनेसे भव-पार करनेवाली होती है।

टिप्पणी—२ *'अस कहि चरन परेउ……।' 'पदपंकज बिलोकि भव तरिहौं'* यह चरणोंका अवलम्ब कहकर चरणोंपर पड़ा अर्थात् उनका अवलम्ब लिया। *'प्रभु'* अर्थात् रक्षा करनेको समर्थ हो। श्रीरामचन्द्रजीने सब वानरोंको जानेको कहा है, यथा—*'अब गृह जाहु सखा सब',* इसीपर अङ्गदजी कहते हैं कि *'अब जनि नाथ कहहु गृह जाही।'* दूसरा भाव कि आपके बचनका उत्तर न देना चाहिये—*'उतरु देइ सुनि स्वामि रजाई……।'* इसीसे आपके कहनेके पूर्व ही मैं प्रार्थना करता हूँ कि घर जानेको न कहिये।

दो०—अंगद बचन बिनीत सुनि रघुपति करुनासीव।
प्रभु उठाइ उर लाएउ सजल नयन राजीव॥
निज उर माल बसन मनि बालितनय पहिराइ।
बिदा कीन्हि भगवान तब बहु प्रकार समुझाइ॥ १८॥

अर्थ—अङ्गदजीके नम्र वचन सुनकर करुणाकी सीमा प्रभु रघुनाथजीने उनको उठाकर हृदयसे लगा लिया, (प्रभुके) नेत्र-कमलमें जल भर आया। अपने हृदयपरकी माला, वस्त्र, भूषण वालिपुत्रको पहनाकर और बहुत प्रकारसे समझाकर तब भगवान्ने उनको विदा किया॥ १८॥

टिप्पणी—१ (क) *'अंगद बचन बिनीत सुनि'* उपसंहार है, *'अति बिनीत बोले बचन'* उपक्रम है। (ख) *'करुनासीव'* विशेषण देकर जनाया कि वचन सुनकर वे करुणायुक्त हो गये। *'करुनासीव'* कहकर आगे करुणाकी दशा कहते हैं कि उनके नेत्र सजल हो गये। (ग) श्रीरामजीके प्रेमसे अङ्गदजीके नेत्रोंमें जल भर आया था, यथा—*'तब अंगद उठि नाइ सिरु सजल नयन कर जोरि।'* वैसे ही अङ्गदके प्रेमसे श्रीरामजीके नेत्रोंमें जल भर आया। (घ) *'उठाइ उर लाएउ'* यह बालक भावसे किया।

पं०—अङ्गदकी विनय न स्वीकार की तब भी *'करुनासीव'* विशेषण दिया। भाव कि प्रभुकी आज्ञा मानना सेवकका धर्म है। अङ्गदने आज्ञा नहीं मानी तब भी उसपर कोप नहीं किया, प्रत्युत उसको हृदयसे लगाया और करुणार्द्र हो सजलनयन हो गये; अतः *'करुनासीव'* कहा।

पां०—*'उर लाएउ'* का भाव कि जैसे वाली तुम्हें गोदमें दे गया था, वैसे ही हम तुम्हें हृदयमें रखे हैं—यह अपना वात्सल्य दिखलाया। *'सजल नयन'* इससे कि राज्य सुग्रीवको दे चुके, अभी वह राज्य तुमको दे नहीं सकते, उनके पीछे तुम ही राजा होगे।

टिप्पणी—२ (क) *'निज उर माल बसन मनि'* देनेका भाव कि श्रीरामजीने कृपा करके अङ्गदको अपना प्रसाद दिया। (ख) *'बालितनय'* का भाव कि वाली भारी राजा था, उसका यह पुत्र है, अतः उसके योग्य वस्तु उसको दी।

३ ☞ श्रीरामचन्द्रजीने सब वानरोंको समझाया कि *'सदा सर्बगत सर्बहित जानि करेहु अति प्रेम'* और अङ्गदको *'बहु प्रकार'* समझाया। बहुत प्रकार यह कि—(१) तुम्हारे रखनेसे हमारी बदनामी (अपकीर्ति) होगी। लोग कहेंगे कि श्रीरामजीने दिखानेभरके लिये अङ्गदको युवराज किया, फिर सुग्रीवके कहनेसे अथवा अपनी ओरसे अङ्गदको अपने किंकरोंमें रख लिया। (२) यह तुम्हारा घर है, यहाँ सदा आते-जाते रहना। (३) हमने तुम्हें जो युवराज-पद दिया, वह हमारा वचन व्यर्थ न होगा। यदि यहाँ तुम सेवक होकर

रहे या आये तो तुम्हारा यौवराज्य कैसे सिद्ध हुआ? (४) तुम्हारी माताको पतिका शोक है। यदि तुम न गये तो पुत्रशोकसे वह अत्यन्त विह्वल हो जायगी। (५) तुम्हारे ही कहनेके अनुसार जब वाली तुम्हें हमारी गोदमें डाल गया तब बताओ कि गोदवालेसे कहीं नीच टहल ली जाती है? इत्यादि।

पां०—'*बहु प्रकार*' समझानेका ब्योरा गोसाईंजीने इसी दोहेके शब्दोंमें रख दिया है। अङ्गदके वचनोंके अभिप्राय समझकर श्रीरामचन्द्रजीने उनको—(क) उरमाला पहनाकर समझाया कि सुग्रीव जानते हैं कि जिसे हम माला पहनाते हैं उसकी तन-मन-वचनसे रक्षा करते हैं, उसको पुष्पमाला पहनाकर वालीसे अभय किया था और तुमको मणिमाला पहनाकर सदाके लिये उससे अभय करते हैं, वह आँख उठाकर भी न देखेगा। हमारा फैसला कभी न टलेगा। (ख)—दूसरा प्रकार 'अपना वस्त्र-भूषण' पहनाकर यह बोध कराया कि इनको पहनकर किष्किन्धामें जानेसे राज्यकी सब प्रजा जान लेगी कि राज्यमें तुम्हारा दावा बना है, उत्तरराज्याधिकारी तुम ही हो दूसरा नहीं और यह कि हम तुम्हारे सहायक हैं; हमारा निर्णय टल नहीं सकता। पुनः, (ग)—अपना राज वस्त्र-भूषण देकर जनाया कि यदि तुमको सुग्रीवके राज्य भोगनेतक सन्तोष न हो तो इसी राज्यपर तुम्हें बिठा दें (वा, वह राज्य न मिलेगा तो तुम्हें इस राज्यमें हक देंगे। यहाँ सूक्ष्मालङ्कार है)।

शीला—'*बहु प्रकार*' यह कि—(क) सुग्रीवके पुत्र राज्य न पायँगे, तुमको ही राज्य मिलेगा। (ख) दीनता—देशमें तुम्हारा दीन वचन कहना योग्य ही है, पर मेरे भक्तोंको किसीके भयसे अपना स्थान छोड़ना उचित नहीं, संसारमात्र मेरे अधीन है, मैं ही सबका प्रेरक हूँ। इत्यादि।

मा० म०—'*बहु प्रकार*'—(क) युवराज बनाया, राज न लेना था तो उसी समय कह देना था, अब तो राज्य-पालनार्थ जाना ही उचित है। (ख)—न जानेसे सुग्रीवपर कलङ्क लगेगा कि ये ही उसे छोड़ आये। पतिको मरवाकर अब पुत्र और वंशका नाश किया।

मा० म०—जाम्बवन्तादि श्रीरामचन्द्रजीका स्वरूप हृदयमें रखकर और प्रणाम करके चले। इसमें माधुर्य और ऐश्वर्य दोनों हैं; परन्तु अङ्गदको माधुर्यता रही सो वह कहनेमें लड़खड़ा गये क्योंकि अङ्गदका वचन विशेषतर ऐश्वर्यमिश्रित है। यदि वह माधुर्यमें दृढ़ रहते तो श्रीरामचन्द्रजी विदा न करते।

पं० रा० व० श०—१ विदा करनेमें '*भगवान*' पद देकर जनाया कि प्रभुको विदा करनेमें बड़ा सामर्थ्य खर्च करना पड़ा। २—यहाँ यह शङ्का अवश्य होगी कि जब गुरु-पितु-माता शरण सब कुछ प्रभुको कहा, पूर्ण शरणागति की, तब भी अङ्गदको क्यों विदा कर दिया? वस्तुतः विचारिये तो अङ्गदके वचन ही ऐसे हैं। कोछेमें डालनेसे वालीका अभिप्राय यह थोड़े ही था कि अवध ले जाइये, राज्यसे वञ्चित कर दीजिये। इसमें सुग्रीवके बाद इसीको राज्य देने, अपनी सम्पत्तिका मालिक बनाने और रघुनाथजीद्वारा उसकी रक्षाके अभिप्रायसे वालीने सौंपा—(करु०)। अङ्गदको युवराज देना सुग्रीवके सम्मतसे नहीं था; इसीलिये प्रभुने लक्ष्मणजीको समझाकर कहा था तब उन्होंने जाकर युवराज्य दिया था, अङ्गदने युवराज्य स्वीकार किया, यह न कहा कि हम न लेंगे! वाल्मीकिमें भी अङ्गदने स्वयं कहा है कि सुग्रीवने हमको युवराज्य नहीं दिया। विवरसे निकलनेपर अङ्गदने कहा है कि सुग्रीवने रामजीके कहनेसे युवराज बनाया था।—अब जब युवराज बना चुके तब प्रतिज्ञा कैसे छोड़े। आज यह प्रेमसे कातर होकर कहते हैं कि रख लें, पर यदि हम रख लें तो मर्यादा नष्ट हो जायगी। ३—बहु प्रकार यह समझाया कि न जाओगे तो हमारी मर्यादा नष्ट होगी, हमारी मर्यादा रखनेके लिये तुम्हारा जाना जरूरी है। तुम कहते हो त्याग न करो। हमने तुम्हें त्याग नहीं दिया। सोचो कि यदि हम तुमको रख लें तो अन्य वानरोंको मानों हमने त्याग दिया—इत्यादि। ४—'भव तरूँगा' इसके उत्तरमें अपने भूषण-वस्त्र दिये कि तुम्हें अभीसे सारूप्य किये लेते हैं और सबसे अभय करते हैं तब तुमको भव तरनेकी चिन्ता या सन्देह ही क्या?

वि० त्रि०—'*राज काज सब तुम करत, सब बिधि तव अधिकार। मन बच क्रम पालिय प्रजहि, कीजिअ राजसँभार॥ राजा द्रष्टा ह्वै रहत, काज करत युवराज। राज सँभारो आपनो, होय सुखी कपिराज॥* अङ्गद

तुमहि कुदृष्टि ते ताकि सकै नहि कोय। मैं दीन्ह्यौं युवराजपद, सो न अन्यथा होय॥ हेम हार बालिहि दयो, रक्षाहित सुरराज। तव हित निज उरमाल मनि, पहिरावत हौं आज॥'

मा० हं०—पाहुनोंकी विदाके वर्णनका ढङ्ग बहुत ही अवर्णनीय है। यहाँ रामजी और अङ्गदजी तो केवल कृतज्ञता और प्रेमकी प्रत्यक्ष मूर्तियाँ ही दिखायी देते हैं। इस प्रसङ्गको लिखते समय गोसाईंजीकी दृष्टिमें गोकुलकी गोप-गोपियोंद्वारा श्रीकृष्णजीको भेजा हुआ सन्देशा (भागवत स्क० १० अ० ४७) अवश्य रहा होगा। ऐसा कहनेका कारण यह है कि यहाँ करुणा और प्रेमकी जो लहरें उठी हैं, वे सब वहींकी प्रतीत होती हैं। परन्तु भवभूति कविके 'उत्तररामचरित' पर गोसाईंजीकी दृष्टि पहुँची थी यह बात निश्चित है। क्योंकि **'वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि………'**, इस उत्तररामचरितके श्लोकका भाव गोसाईंजीने भाषावेषसे *'कुलिसहु चाहि कठोर अति………'* इस दोहेमें बिलकुल अक्षरशः दिखलाया है।

सहजता, सरलता और सरसताकी दृष्टिसे इस प्रसङ्गमें अङ्गदका भाषण सारी रामायणमें वह एक ही है। इसमेंकी प्रेम और करुणाकी लहरें देखकर हमारी तो ऐसी ही कल्पना होती है कि इस भाषणकी रचनाके समय कविके मनमें उनकी पूर्वावस्थाकी स्मृतियाँ जोरसे उछली होंगी। जन्मसे ही माता-पिताका सुख न देखा न सुना, बाद गुरुमहाराजका वियोग, उसपर भी पतिव्रता स्त्रीका त्याग—ऐसी आयुष्य भी क्या? ऐसी बातोंसे उद्वेग पाकर केवल एक रामजीके सिवा अन्य कुछ भी आधार नहीं, इस भावनाकी उत्कटतामें अङ्गदके भाषणकी रचना हुई होगी, ऐसा हमें भाषित होता है। यदि यह सत्य हो तो इस प्रसङ्गका अङ्गद स्वयं स्वामीजी ही हो सकते हैं। हमारी इस कल्पनाके विचारके लिये अङ्गदका पूरा भाषण *'सुनु सर्बज्ञ………'* से *'अब जनि नाथ कहहु गृह जाही'* १८ (१—८) तक देखिये। अङ्गदके बारेमें कहना था सो हम थोड़ेमें कह चुके। अब रामजीकी ओर देखिये। अङ्गदके चरणोंमें गिर जानेपर प्रभु रामजी *'सजल नयन राजीव'* हुए और उन्होंने अङ्गदको *'उठाइ उर लाएउ'* और *'निज उर माल बसन मनि बालितनय पहिराइ।'* परंतु अङ्गलग्न होनेके कारण भृगुपदचिह्न और श्रीवत्स वे नहीं दे सके। इससे उन्हें बड़ी खिन्नता प्राप्त हुई और इसीलिये उन्हें *'बहु प्रकार'* अर्थात् अत्यन्त ही विनयतासे अङ्गदको समझाना पड़ा। स्वामीजीके रामजीका हृदय श्रीशुकदेवजीके श्रीकृष्णजीके हृदयसे कैसा साम्य रखता है, यह भा० (३। १६। ६) **'यस्यामृतामलयशः श्रवणावगाहः सद्यः पुनाति जगदाश्वपचाद्विकुण्ठः। सोऽहं भवद्भ्य उपलब्धसुतीर्थकीर्तिश्छिन्द्यां स्वबाहुमपि वः प्रतिकूलवृत्तिम्॥'** (अर्थात् मेरा नाम विकुण्ठ है। मेरे अमृतसदृश निर्मल यशका श्रवण करनेसे चाण्डालपर्यन्त पवित्र हो जाते हैं। किन्तु मेरा यह तीर्थस्वरूप सुशोभन यश मुझे आप ही लोगोंसे प्राप्त है। अतएव जो व्यक्ति आप लोगोंके प्रतिकूल आचरण करे वह मेरी भुजा ही क्यों न हो, मैं उसको तुरन्त काट डालूँ।) इस श्लोकमें दीख पड़ेगा।

भरत अनुज सौमित्रि समेता। पठवन चले भगत कृत चेता॥ १॥
अंगद हृदय प्रेम नहिं थोरा। फिरि फिरि चितव रामकी ओरा॥ २॥
बार बार कर दंड प्रनामा। मन अस रहन कहहिं मोहि रामा॥ ३॥

अर्थ—भक्तोंके उपकारको चित्तमें रखकर भाई लक्ष्मण और शत्रुघ्नसहित भरतजी सबको पहुँचाने चले॥ १॥ अङ्गदजीके हृदयमें थोड़ा प्रेम नहीं है (बहुत है)। वे बार-बार श्रीरामजीकी ओर फिर-फिरकर देखते हैं और बारम्बार दण्डवत्-प्रणाम करते हैं, मनमें ऐसा आता है कि श्रीरामजी मुझसे रहनेको कह दें॥ २-३॥

गौड़जी—इस विदाईके प्रकरणमें एक पदका दूसरे पदसे सम्बन्ध ध्यानमें बिना रखे दृश्य स्पष्ट नहीं होता। *'अंगद बैठ रहा नहिं डोला'* इस अंशका सम्बन्ध *'तब अंगद उठि नाइ सिरु'* से है और *'बहु प्रकार समुझाइ'* तक चला गया है। फिर *'जामवंत नीलादि सब पहिराये रघुनाथ। हिय धरि रामरूप सब चले नाइ पद माथ॥'* इस दोहेका सम्बन्ध *'भरत अनुज सौमित्रि समेता। पठवन चले भगत कृत चेता॥'*

से है और यहीं समाप्त भी हो जाता है। इसके पहले *'बिदा कीन्ह भगवान तब बहु प्रकार समुझाइ'* पर प्रकरणकी समाप्ति नहीं हुई है। भगवान्‌के विदा करनेपर अङ्गदकी क्या दशा हुई, इसका सम्बन्ध आगेकी चौपाईसे मिलता है—*'अंगद हृदय प्रेम नहिं थोरा'*......*'चलेउ हृदय पदपंकज राखी'*—यहाँ अङ्गदका प्रकरण समाप्त होता है और फिर *'पठवन चले भगत कृत चेता'* का सम्बन्ध आता है। अर्थात् *'अति आदर सब कपि पहुँचाये। भाइन्ह सहित भरत पुनि आये॥'* इस तरहके जोड़-तोड़से यह भी ध्वनित होता है कि यह सारे काम एक ही समयमें एक साथ हुए हैं, अङ्गदजीका कुछ पीछे जाना कुछ ही मिनटों पीछेकी बात है और *'सब कपि पहुँचाये'* में *'सब'* शब्द यह कहता है कि पहुँचाये जानेवालोंमें अङ्गद भी थे। अर्थात् घटना यों हुई कि अङ्गद बैठे रहे और सब लोग चल पड़े तो तीनों भाई उन्हें पहुँचानेके लिये उनके साथ-साथ चले। अङ्गदजी बैठे न रह जाते और सबके साथ जाते तो शायद सरकार स्वयं पहुँचानेके लिये कुछ दूर जाते। जब यह मालूम हुआ कि एकान्तमें बातचीत करना अङ्गदको मञ्जूर है तो इधर श्रीरघुनाथजी स्वयं भाइयोंके साथ तो गये नहीं और उधर जानेवाली और पहुँचानेवाली मण्डली कुछ दूर चलकर और अङ्गदको एकान्त देकर जरा रुक गयी। इतनेमें अङ्गदजी विदा होकर आये और सबके साथ हो लिये। इसके बाद भरतादि भाइयोंके लिये यह कहा गया है कि *'अति आदर सब कपि पहुँचाये।'* इस तरह बीच-बीचमें अवरेवी वर्णन बड़ा ही सुन्दर है, देश और कालका बिना निर्देश किये हुए ध्वनिमात्रसे रसिक पाठकके मन:पटलपर वह चित्र अङ्कित कर दिया गया है जो रङ्गभूमिमें अभिनयके द्वारा ही दिखाया जा सकता है। इस प्रकरणमें पूर्वापर-वर्णनक्रम कविके अनूठे चमत्कारका द्योतक है।

टिप्पणी—१ *'हिय धरि रामरूप सब चले नाइ पद माथ'* यहाँसे इसका सम्बन्ध है। जब सब वानर चले तब तीनों भाई भेजने चले। क्रमसे चलना लिखते हैं। (क) *'भरत अनुज सौमित्रि समेता'* अर्थात् आगे भरतजी हैं, उनके पीछे अनुज लक्ष्मण और इनके पीछे शत्रुघ्नजी हैं—[नोट—पर सौमित्रि शब्द सर्वत्र लक्ष्मणजीके लिये ही प्रयुक्त हुआ है और भरतानुज शत्रुघ्नजीके लिये भरतमिलापमें ही आया है। (ख)—*'भगतकृत चेता'* अर्थात् भक्तोंके उपकारोंके चेत करनेवाले ये तीनों भाई उनके उपकारको चेत करके पहुँचाने चले। इस अर्थकी पुष्टि आगेकी *'अति आदर सब कपि पहुँचाए। भाइन्ह सहित भरत पुनि आए॥'* इस चौपाईसे होती है।—*'भगवत कृत चेता'* से रामजीका अर्थ करना ठीक नहीं है।—श्रीरामजी पहुँचाने नहीं गये, यह बात *'कहेहु दंडवत प्रभु सन', तासु प्रीति प्रभु सन कही मगन भए भगवंत',* इस उद्धरणसे भी पायी जाती है]*

गौड़जी—यहाँपर *'भरत अनुज सौमित्रि समेता'* में भरत, शत्रुघ्न और लक्ष्मण यह क्रम रखा गया है। यदि लक्ष्मणजी शत्रुघ्नजीसे बड़े हैं और दोनों यमज हैं तो भरतजीके नामके बाद लक्ष्मणजीका नाम आना चाहिये था। यदि यह कहा जाय कि सौमित्रि शत्रुघ्नजीके लिये आया तो मानसकारके साधारण प्रयोगसे इस प्रस्तावका समर्थन नहीं होता। सौमित्रि शब्द बराबर लक्ष्मणजीके लिये प्रयुक्त हुआ है। यहाँ तीनों नामोंमें अनुप्रास भी क्रमका प्रवर्तक नहीं है। छन्दोरचनाके कारण भी यह क्रमभङ्ग नहीं हुआ है, क्योंकि यदि मानसकारको दूसरा क्रम रखना अभिप्रेत होता तो वह सहज ही *'भरत लषन सत्रुघ्न समेता'* यह कह सकता था। यदि 'शत्रुघ्न' को कोमल करना मञ्जूर होता तो *'भरत लषन सत्रुहन समेता'* लिख सकता था। निदान यदि उस क्रमका निर्वाह मञ्जूर होता तो पद्यरचनाके कारण कोई बाधा न थी और अनेक स्थलोंकी तरह यहाँ भी जान-बूझकर *'भरत अनुज सौमित्रि'* लिखा गया है। यहाँ भी भरत और शत्रुघ्नके अवतार विशेषमें यमज भाई होनेकी ओर इशारा है। इस कथाके सम्बन्धमें अन्यत्र विस्तारसे वर्णन हो चुका है। [इस तर्कसे बचनेके लिये ऐसा अर्थ करते हैं कि 'भरतजी अपने दोनों छोटे भाइयों सौमित्रिसहित भेजने चले।' सौमित्रिसे यहाँ सुमित्राजीके दोनों पुत्र श्रीलक्ष्मणजी और श्रीशत्रुघ्नजी लिये जायँगे। इस तरह

* १—'भक्त कृत चेता'=जो अपनी शुद्ध भक्तिके आचरणसे अपर भक्तोंको चैतन्य करनेवाले हैं। २ रा० च०—भाव कि रघुनाथजीने इन्हें अपना सखा बनाया है, राज्य दिया है, भक्त किया है, यह चितसे चेतकर पहुँचाने चले।

पं० रामकुमारजीके अर्थकी पुष्टि हो जाती है। आगेके *'भाइन्ह सहित भरत पुनि आए'* से भी इस अर्थका समर्थन होता है। इस सम्बन्धमें सम्पादकने अपने विचार पूर्वकाण्डोंमें प्रकट किये हैं। इस काण्डमें भी दोहा ६ (१) में देखिये।]

टिप्पणी—(२) *'फिरि फिरि'* देखनेका भाव कि श्रीरामदर्शन छोड़ा नहीं जाता और जीमें है कि बार-बार उनकी ओर देखनेसे कदाचित् प्रभु मुझे देखकर तरस खाकर रहनेको कह दें। (ख) *'बार बार'* दण्ड-प्रणाम करनेका भाव कि जब-जब फिर-फिरकर प्रभुकी ओर देखते हैं तब-तब बराबर दण्डवत्-प्रणाम करते हैं। (ग) *'मन अस'* का भाव कि वचनसे कह नहीं सकते, क्योंकि वचनसे बहुत कह चुके हैं। आज्ञा होनेपर कुछ कहना धृष्टता है, अनुचित है; अतः मनमें सोचते हैं, प्रभु तो अन्तर्यामी हैं। [खर्रा—बार-बार दण्ड-प्रणाम करके देर लगा रहे हैं, यह किसलिये? सो आगे कहते हैं—*'मन अस रहन कहहिं'*]

नोट—*'फिरि फिरि चितव……'* इति। इससे जनाया कि अङ्गद बिदा किये गये, पर अभी वे प्रभुके समीप हैं, वहाँसे चले नहीं हैं। चलना आगे कहेंगे।—*'चले हृदय पद पंकज राखी'* दृश्य यह है कि वे एक बार दण्डवत्-प्रणाम कर फिर उनकी ओर देखते हैं कि शायद रुक जानेको कह दें। जब नहीं कहते तब फिर उनकी ओर देखकर दण्डवत् करते हैं; इत्यादि बारम्बार दण्डवत् करनेपर भी प्रभुकी ओरसे जब कोई इशारा नहीं मिलता तब भाँति-भाँतिसे विनय करते हैं कि अच्छा बिसराइयेगा नहीं, कभी-कभी यहाँ आनेकी-चरण-दर्शन करनेकी आज्ञा देते रहियेगा।

प० प० प्र०—दोहा १७ से १८ तक अङ्गद-स्तुति है। यह तेईसवीं स्तुति है और तेईसवाँ नक्षत्र श्रवण है। दोनोंका साम्य इस प्रकार है—श्रवणमें तीन तारे वैसे ही स्तुतिमें *'पदजल जाता'* *'पदपंकज'* और *'चरन'* तीन हैं। श्रवणका आकार त्रिविक्रम-सा है। त्रिविक्रम (वामनभगवान्) ने तीन बार चरण रखा था। *'पदजल जाता'* से वह चरण सूचित किया जिसे ब्रह्मलोकमें ब्रह्माजीने धोया था, जहाँसे *'नखनिर्गता सुर बंदिता त्रैलोक्य पावन सुरसरी'* प्रादुर्भूत हुई थीं। *'पद पंकज'* से वह चरण सूचित किया जो पृथ्वीपर रखा गया। *'जिमि थल बिनु जल रहि न सकाई।'* और तीसरा चरण जिससे बलिको पाताल भेज दिया वह *'चरन'* से सूचित किया। जैसे बलिको पाताल जाना पड़ा, वैसे ही इन चरणोंकी आज्ञासे अङ्गदको अपनी इच्छाके विरुद्ध किष्किन्धामें जाना पड़ा। *'शचीपति प्रियानुज'* वामन ही तो यहाँ राम बन गये हैं। नक्षत्रका देवता गोविन्द और फल श्रुति *'राम भगत जन जीवन धन से'* है, वैसे ही श्रीरामको, *'गोबिंद गोपर द्वंद्वहर'* कहा ही है और भगवान् प्रभु रघुनायक 'अङ्गदके जीवन-धन हैं ही, यह उनके *'मोरे तुम्ह प्रभु गुरु पितु माता।'* आदि वचनोंसे स्पष्ट है, इनसे यह फलश्रुति अङ्गदजीमें पूरी घटित होती है। नाम साम्य इस प्रकार है कि 'श्रवण' का अर्थ सुनना है और *'गृह जाही'* आदि वाक्य सुननेकी इच्छा न होनेपर भी वे वचन अङ्गदको सुनने ही पड़े—*'बहु प्रकार समुझाइ बिदा कीन्हि।'*

राम बिलोकनि बोलनि चलनी। सुमिरि सुमिरि सोचत हँसि मिलनी॥ ४॥
प्रभु रुख देखि बिनय बहु भाषी। चलेउ हृदय पद-पंकज राखी॥ ५॥
अति आदर सब कपि पहुँचाए। भाइन्ह सहित भरत पुनि आए॥ ६॥

अर्थ—श्रीरामजीका कृपावलोकन, उनकी बोल-चाल और उनका हँसकर मिलना सुमिर-सुमिरकर सोचते हैं॥ ४॥ प्रभुका रुख देखकर बहुत बिनती की और हृदयमें पदकमलोंको रखकर चले॥ ५॥ बड़े आदरसे सब वानरोंको पहुँचाकर भाइयोंसहित भरत फिर आये॥ ६॥

टिप्पणी—१ श्रीरामजी अपने स्नेहीको प्रथम आप ही देखते हैं, उससे प्रथम आप ही बोलते हैं, उससे मिलनके लिये प्रथम आप ही चलते हैं और प्रथम आप ही हँसकर उससे मिलते हैं—यह सब स्वभाव सुमिर-सुमिरकर सोचते हैं कि अब ऐसे स्वामीकी प्राप्ति कब होगी। प्रभु कृपादृष्टिसे सबको देखते हैं, मधुर मृदु-वचन बोलते हैं और जब भक्तके मिलनेके निमित्त आगे चलते हैं तब हँसकर मिलते हैं।

२ *'प्रभु रुख देखि बिनय बहु भाषी'* *'बहु बिनय'* यह कि मैं चरण-सेवक हूँ, मेरी सुधि बनी रहे और मैंने आपकी इच्छाके प्रतिकूल बात कही, अपने हितके लिये आपको सङ्कोचमें डाला यह अपराध क्षमा करें। (ख) *'चलेउ हृदय पदपंकज राखी।'* अङ्गदजीने प्रथम कहा है कि *'पदपंकज बिलोकि भव तरिहौं'* उन्हींको अब हृदयमें रख लिया। चरणोंका संयोग बाहरसे छूटा तब हृदयमें उनका संयोग किया।

३ *'अति आदर सब कपि पहुँचाए।'''''''* इति। (क) ☞जहाँसे प्रसङ्ग छूटा था वहींसे अब पुनः कहते हैं। *'भरत अनुज सौमित्रि समेता। पठवन चले''''''''* यहाँ प्रसङ्ग छोड़ा था। (ख) *'अति आदर सब कपि'* अर्थात् सामान्य-विशेष सभी वानरोंको बहुत दूरतक पहुँचाने गये। क्योंकि सभीने रामजीकी सेवा बराबर की है। पहुँचाने न जाना आदर नहीं है और दूरतक पहुँचाने जाना *'अति आदर'* है।

तब सुग्रीव-चरन गहि नाना। भाँति बिनय कीन्हे हनुमाना॥ ७॥

दिन दस करि रघुपति पद सेवा। पुनि तव चरन देखिहौं देवा॥ ८॥

अर्थ—(जब श्रीभरतादिक लौट गये) तब हनुमान्‌जीने सुग्रीवजीके चरणोंको पकड़कर अनेक प्रकारसे विनय की॥ ७॥ दस दिन (थोड़े दिनों) श्रीरघुनाथजीकी सेवा करके फिर, हे देव! आपके चरणोंका दर्शन करूँगा॥ ८॥

पं० रा० व० श०—*'नाना भाँति''''''''दिन दस''''''''।'* भाव कि विनय तो बहुत की, उनमेंसे एक यह है। *'दस'* कुछका उपलक्षक है।

टिप्पणी—१ (क) नाना भाँतिकी विनय की, यह हनुमान्‌जीकी नम्रता और शील है। राजाओंसे बोलनेकी यही रीति है। पुनः चरण पकड़ना अत्यन्त विनम्रताका तथा कृतज्ञता-प्रदर्शनका सूचक है। विद्यागुरु सूर्य-भगवान्‌की कृपासे उनके पुत्र सुग्रीवके ये मन्त्री बने, उनकी, प्रभुकी मित्रता करायी, राज्य दिलवाया और उनके पास रहनेसे प्रभुकी समीपता प्राप्त हुई है। पुनः चरण पकड़कर विनय करनेका भाव कि जिसमें सुग्रीव कृपा करके श्रीरामजीकी सेवामें रहनेकी आज्ञा दे दें। (ख)—*'दिन दस करि''''''''',* विनती करके यह अपना प्रयोजन सुनाते हैं। *'दस दिन'* से अल्पकाल सूचित किया। [अथवा हनुमान्‌जी चिरञ्जीवी हैं, इनकी दृष्टिमें बहुत काल भी अल्पकालके समान है। वा उन्होंने यह विचार किया कि पृथ्वीपर दशसहस्र वर्ष रहना है। ये दस दिन-सरीखे बीत जायँगे। अतः दो-चार दिन न कहकर दस दिन कहा। (पं०)] हनुमान्‌जी सुग्रीवका स्वभाव जानते हैं कि राम सेवा छोड़कर अपने यहाँ आनेको कभी न कहेंगे। इसीसे उन्होंने दस दिनके लिये कहा। (ग) ☞हनुमान्‌जी श्रीरामजीके चरणोंकी सेवा और सुग्रीवके चरणोंका दर्शन करनेको कहते हैं। चरण-सेवा चरणदर्शनसे विशेष है। इससे सूचित हुआ कि सुग्रीवजीके चरणोंसे रामजीके चरणोंमें आपकी विशेष भक्ति है। (घ) *'देवा'* का भाव कि आप दिव्य हैं, हमारे हृदयकी सब जानते हैं, आपसे मैं सत्य कहता हूँ।

प्रश्न—*'दिन दस करि रघुपति पद सेवा। पुनि तव चरन देखिहौं देवा॥'* सुग्रीवजीसे इस प्रकारकी प्रतिज्ञा करते हुए भक्तशिरोमणि अवध लौटे। पुनः किष्किन्धा जानेका कहीं लेख पाया नहीं गया। उनकी वाणीको कैसे सत्य प्रमाणित कीजियेगा?

उत्तर—**'वाराङ्गनेव नृपनीतिरनेकरूपा'** तो प्रसिद्ध ही है। उसी अनेक रूपमें ऐसा भी एक रूप-प्रभेद है कि दो मित्र राष्ट्रोंमेंसे एक राज्यका सम्मानित व्यक्ति यदि दूसरे राज्यमें किसी निजी कारणसे रहना चाहे तो उसे प्रथम अपने राजासे स्वीकृति ले लेना परमावश्यक है। बिना स्वीकृति लिये यदि उसे दूसरा राजा अपने यहाँ रख ले तो सम्भव है कि दोनोंमें वैमनस्यका उदय हो जाय। श्रीरामजीके सम्बन्धमें सभी एक स्वरसे कहते और मानते हैं कि—*'नीति प्रीति परमारथ स्वारथ। कोउ न राम सम जान जथारथ॥'* इसलिये—**'स्वधर्मं गृहमेधीयं शिक्षयन् स्वयमाचरत्॥'** (भा० ९। १०। ५५) (अर्थात् श्रीरामजी स्वयं गृहस्थाश्रमके धर्मका पालन करते थे तथा औरोंको भी सिखलाते थे)। श्रीरामजीने कभी भी नीति-धर्मका परित्याग किया हो ऐसा कोई नहीं कह सकता। नीति-रक्षणार्थ ही श्रीरामजीने अङ्गदकी बहुत प्रार्थनापर

भी ध्यान न देकर अङ्गदको *'निज उर माल बसनमनि बालितनय पहिराइ। बिदा कीन्ह भगवान तब बहु प्रकार समुझाइ॥'* यदि अङ्गदजी अपने राजा सुग्रीवसे अपने अयोध्या रहनेकी आज्ञा ले लिये होते तो नीतितत्त्वके परम ज्ञाता श्रीरामजी अङ्गदको किसी तरह नहीं कह सकते थे कि तुम यहाँसे चले जाओ। श्रीहनुमान्जी सर्व-विद्यानिधान हैं, नीतिके सारे रहस्योंको यथार्थरूपेण जानते हैं, इसीसे श्रीरामजीसे न कहकर अपने राजाका चरण पकड़कर नाना प्रकारकी प्रार्थना करके दस दिनकी छुट्टी माँगी कि मुझे दस दिन और भी श्रीराम-चरणसेवाका सौभाग्य दिया जाय। तब वानराधीश सुग्रीवने सदैवके लिये आज्ञा दे दी—*'पुन्यपुंज तुम्ह पवनकुमारा। सेवहु जाइ कृपा आगारा॥'* सुग्रीवसे सदैवके लिये छुट्टी [पेंशिन] मिल गयी थी, इसीसे श्रीहनुमान्जीके दस दिन बाद जानेका कहीं उल्लेख नहीं मिलता। सुग्रीवजी सम्पूर्ण वानरोंके सम्राट् थे और वानर-शरीरधारी होनेसे श्रीहनुमान्जी सदैव सुग्रीवको राजा और स्वयंको (**'अहं सुग्रीवसचिवः।'** (वाल्मी० रा० सुन्दर०) सुग्रीवका मन्त्री मानते रहे। (वै० भू०)

पुन्य पुंज तुम्ह पवनकुमारा। सेवहु जाइ कृपा आगारा॥ ९॥
अस कहि कपि सब चले तुरंता। अंगद कहै सुनहु हनुमंता॥ १०॥

अर्थ—हे पवनकुमार! तुम पुण्यपुञ्ज (परम सुकृती) हो (कि श्रीरामजीने तुम्हें सेवामें रख लिया, विदा न किया), तुम जाकर दयाके धाम श्रीरामजीकी (सब दिन) सेवा करो॥ ९॥ सुग्रीवादि सब वानर ऐसा कहकर तुरन्त चल दिये। तब अङ्गद कहने लगे कि हे हनुमान्जी! सुनो॥ १०॥

पं० रा० व० श०—*'पुन्य पुंज तुम्ह''''''''*' का भाव कि आपके प्रारब्धका पर्यवसान हो गया और हमारे संस्कार अभी हमारे प्रतिबन्धक हैं।

प्रभुने इनको विदा न किया। इससे स्पष्ट है कि वे इनको अपना मानते हैं। अतः इनको पुण्यपुञ्ज कहा। यथा—*'हम सब पुन्यपुंज जग थोरे। जिन्हहिं राम जानत करि मोरे॥'* (२। २७४) पुनः श्रीरामका सामीप्य बड़े पुण्योंसे मिलता है इससे *'पुन्यपुंज'* कहा। यथा—*'कीजहु इहै बिचार निरंतर राम समीप सुकृत नहिं थोरे।'* (गी० २। ११)

वै०—*'पुन्यपुंज'* कहा, क्योंकि औरोंका माता, पिता, स्त्री, पुत्र, धन, धामादिमें स्नेह लगा है, इसीसे उन सबको प्रभुने विदा कर दिया और तुम्हारे नेह-नाते सर्वस्व एक प्रभु ही हैं, इसीसे तुमको जानेको न कहा। तुमको कहीं जाने-आनेका प्रयोजन ही नहीं, अतः तुम बड़भागी हो।

रा० प्र०—जो-जो बिदा किये गये उनकी विषयसे तृप्ति नहीं हुई है। सुग्रीवने स्वयं कहा है कि *'बिषय मोर हरि लीन्हेउ ग्याना'* और अङ्गदके वचन भी सगर्व ही हैं, क्योंकि वे अपने पिताका राज्य सुग्रीवको भोगते देख रहे हैं। रहे विभीषण सो उन्होंने तो अभी राज्यभोग-सुख आरम्भ भी नहीं किया है। वे तो चाहते ही थे कि *'सब बिधि नाथ मोहि अपनाइअ। पुनि मोहि सहित अवधपुर जाइअ॥'* अतएव हनुमान्जीको ही परम अधिकारी जान रखा। *'कपि सब चले तुरंता'* से भी स्पष्ट है कि घर पहुँचनेको सब आतुर हैं। दोहा २० (३—५) भी देखिये।

मा० म०—*'पवनकुमारा'* का भाव कि—(क) पवन सबको सुखदायी हैं, उनका पुण्य तुममें है; अतएव तुम पुण्यपुञ्ज हो। (ख)—सञ्जीवनी लक्ष्मणजीके लिये लाकर और मुद्रिका श्रीजानकीजीको देकर तुमने सबको आनन्दित किया; अतः पुण्यपुञ्ज और धीमान् हो।

टिप्पणी—१ *'पुन्यपुंज तुम्ह'* का भाव कि पुण्यसमूह बिना श्रीरामजीकी सेवा नहीं मिलती। *'कृपा आगारा'* का भाव कि—सेवा करनेसे अत्यन्त कृपा करते हैं। *'कृपा आगारा'* अत्यन्त कृपाका सूचक है।

मा० म०—१ न तो श्रीरामचन्द्रजीने हनुमान्जीको सुग्रीवसे माँगा और न सुग्रीवने दिया, ऐसे असमञ्जसको देखकर स्वयं हनुमान्जीने सुग्रीवसे निर्धार कर लिया। अर्थात् सुग्रीवसे कहला लिया कि तुम श्रीरामचन्द्रजीकी सेवा जाकर करो। २—*'सेवहु जाइ कृपा आगारा'* यह चौपाई *'देत लेत मन संक न धरई'* का उत्तर है

जो किष्किन्धामें रामचन्द्रजीने सुग्रीवसे कहा था। यही कारण है कि श्रीरामचन्द्रजीने न हनुमान्‌जीको माँगा न उन्होंने स्वयं देनेको कहा। क्योंकि मित्रका धन मित्रहीका है—(मयूख)। ३—रामचन्द्रजीने स्वयं क्यों न हनुमान्‌जीको विदा किया, इसका कारण स्पष्ट है कि वे इनसे कई बार कह चुके कि मैं और मेरी सम्पत्ति तुम्हारी है—'*सुनु सुत तोहि उरिन मैं नाहीं।*' तब कौन किसको विदा करे? कौन किसको रखे? इसी प्रकार सुग्रीवने भी विचारा कि मैं और मेरा सर्वस्व श्रीरामचन्द्रजीका है, चाहे वे इन्हें अवधमें रखें चाहे किष्किन्धामें। इस कारण उन्होंने हनुमान्‌जीको भेज दिया।

टिप्पणी—२ '*अस कहि कपि सब चले*' से जनाया कि जैसा सुग्रीवने कहा था वैसा ही फिर सब वानरोंने कहा। '*चले तुरंता*' का भाव कि जबतक सब श्रीरामजीके पास रहे तबतक घरकी सुध नहीं रही, यथा—'*बिसरे गृह सपनेहुँ सुधि नाहीं।*' जब श्रीरामजीकी इच्छा हुई कि वानर घर जायँ तब वानरोंको घरकी सुध आयी। इसीसे तुरन्त चले।—(अब यहाँसे बिदा हो चुके तब वर्षभरसे बिछड़े हुओंसे शीघ्र मिलनेकी लालसा हुआ ही चाहे)। (ख) '*अंगद कहै सुनहु हनुमंता*' इति। सुग्रीव कपिराज हैं। इसलिये जबतक वे हनुमान्‌जीसे वार्ता करते रहे तबतक सब वानर खड़े रहे। जब वे चले तब सब वानर चले। यह मौका पाकर अङ्गदजी हनुमान्‌जीसे बोले।

दो०—कहेहु दंडवत प्रभु सैं* तुम्हहिं कहौं कर जोरि।
बार बार रघुनायकहि सुरति कराएहु मोरि॥
अस कहि चलेउ बालिसुत फिरि आएउ हनुमंत।
तासु प्रीति प्रभु सन कही मगन भए भगवंत॥
कुलिसहु चाहि कठोर अति कोमल कुसुमहु चाहि।
चित्त खगेस† राम कर समुझि परै कहु काहि॥१९॥

अर्थ—मैं आपसे हाथ जोड़कर कहता हूँ, मेरी दण्डवत् प्रभुसे अवश्य कहियेगा। श्रीरघुनाथजीको बारम्बार एवं प्रतिदिन क्षण-क्षणपर मेरी याद कराते रहियेगा। ऐसा कहकर वालिपुत्र चले तब हनुमान्‌जी लौटकर आये और उनका प्रेम प्रभुसे वर्णन किया। (उसे सुनकर) भगवान् मग्न हो गये। हे पक्षिराज! श्रीरामजीका चित्त वज्रसे भी अधिक अत्यन्त कठोर और फूलसे भी बढ़कर अत्यन्त कोमल (ऐसा अद्भुत) है,‡ तब कहिये तो कि वह किसे समझ पड़े॥ १९॥

टिप्पणी—१ '*कहेहु दंडवत प्रभु सैं*……' इति। (क) इस दोहेमें श्रीरामजीके लिये दो शब्द आये हैं—प्रभु और रघुनायक। दोनोंके भाव यह हैं कि प्रभुताके कारण कदाचित् सुध न रहे। बड़े लोग छोटोंको भूल जाते हैं, उनको बहुत कार्य रहते हैं। अतः मेरा दण्डवत्-प्रणाम कहकर सुध दिला दिया करना। '*रघुनायक*' शब्द देकर माधुर्य कहा। तात्पर्य कि राजाओंको जब सुध दिलायी जाय तब सुध होती है (ख) [बार-बार दण्डवत् कहलानेका भाव कि प्रतिदिन ऐसा करनेसे कदाचित् करुणावश होकर मुझे एक बार इस बहानेसे बुला लें। (मयूख)] '*मोरि*' पद अपनी लघुता दर्शित करानेके विचारसे कहा। भाव कि वहाँ मेरी कौन गिनती है, हाँ! सुध दिलाओगे तो सुधि होगी। दण्डवत् तो अभी जाके कहना और सुरति सब दिन कराना।

---

* सन् (१८१७, १८१८)। सैं—(१८४२, भा० दा०, बं० पा०, रा० कु० का०)

† चित खगेस अस राम—(का०)। चित खगेस (१८४२, बं० पा०, भा० दा०)।

‡ वीर—रामचन्द्रजीका चित उपमेय, वज्र और फूल उपमान हैं। उपमेयकी अपेक्षा उपमानमें लघुता वर्णन करना 'तृतीय प्रतीप अलङ्कार' है, व्यङ्ग्यार्थमें व्याघात और विरोधाभास है।

पां०—जब अङ्गदने सुग्रीवके वचनोंसे यह समझा कि हनुमान्‌जी उनकी ओरसे श्रीरामजीके पास रहेंगे, तब उन्हें चिन्ता हुई कि तब हमारी बात और भी मन्द पड़ जायगी, यदि हम अपनी ओरसे किसी औरको मुखतार करें तो इनके समान कोई दूसरा हो नहीं सकता, अतएव हनुमान्‌जीको अपनी ओर कर लेनेके लिये उनसे ऐसा कहा। [पर यहाँ राजनैतिक कोई बात नहीं है। यहाँ तो अङ्गदजीमें बड़ी उत्सुकता दिखा रहे हैं, वे देखते हैं कि हम तो विदा कर दिये गये पर हनुमान्‌जी इधरसे वहाँ भेजे जाते हैं, वहाँ ये रहेंगे ही, अत: इनसे विनय कर दूँ कि सिफारिश करके बुला लें तो बड़ी ही बात हो और कुछ न हो तो मेरी याद ही कराते रहें।

२ (क) *'बालि सुत'* का भाव कि सब वानर तुरन्त चले थे, अङ्गद उस वालीका पुत्र है जो सातों समुद्रोंमें नित्य प्रति सन्ध्या करता था। अर्थात् यह भी बड़े वेगसे चला। (ख) *'मगन भए भगवंत'* इति। भगवान् उनकी प्रीतिमें डूब गये। *'भगवंत'* कहनेका भाव कि प्रभु अपने प्रभुताको, कि वे भगवान् हैं, भुलाकर अङ्गदकी प्रीति सुनकर मग्न हो गये अर्थात् उनके प्रेमके वश हो गये। यथा—*'ऐसी हरि करत दास पर प्रीति। निज प्रभुता बिसारि जन के बस होत सदा यह रीति॥'* (वि० ९८)

३ *'कुलिसहु चाहि कठोर अति·······'* इति। वालीके लिये कठोर थे फिर कोमल हो गये, यथा—*'बालि सीस परसेउ निज पानी।'* इसी तरह प्रथम अङ्गदपर कठोर हुए, उनकी प्रार्थना न सुनी, उनको शरणमें न रखा, यह कठोरता है। पर जब हनुमान्‌जीने आकर उनकी प्रीति कही तब मग्न हो गये, देहसुध न रह गयी, यह कोमलता है। यथा—'**वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि। लोकोत्तराणां चेतांसि को हि विज्ञातुमर्हति॥**' (उत्तररामचरित)

नोट—१ *'कुलिस'*=वज्र, हीरा। यह बहुमूल्य रत्न संसारके सब पदार्थोंसे कड़ा होता है, इसीसे यहाँ 'अत्यन्त कठोरता' के उदाहरणमें इसीका नाम लिया गया। पूर्व बालकाण्ड, अयोध्याकाण्ड और लङ्काकाण्डमें भी यही उदाहरण कठोरताका दिया गया है। यथा—*'सिरस सुमन कन बेधिय हीरा।'* (१। २५८। ४) *'कहँ लगि कहउँ हृदय कठिनाई। निदरि कुलिस जेहि लही बड़ाई॥'* (अ० १७९), *'जो पयफेन फोरि पबि टाँकी।'* (२। २८१) इत्यादि। कुलिशसे अधिक कठोर होनेके साथ ही कुसुमसे भी कोमल कहकर उनकी ईश्वरता दिखाते हैं कि दो विरोधी बातें साथ-साथ उनमें स्थित हैं—'**अघटितघटनापटीयसी**'। अङ्गदको विदा करनेमें कठोरताके कारण दोहा १८ में लिखे जा चुके हैं। अङ्गदके स्वार्थके लिये, उसके हितके लिये कठोर हुए, नहीं तो वह न जाता। भगवान्‌ने नारदजीसे कहा है—*'जेहि बिधि होइहि परम हित नारद सुनहु तुम्हार। सोइ हम करब न आन कछु बचन न मृषा हमार॥'* (बा० १३२) *'कुपथ माँग रुज ब्याकुल रोगी। बैद न देइ सुनहु मुनिजोगी॥'*

२—उत्तररामचरितमें जो *'वज्रादपि·······'* कहा गया है वह मनुष्यके स्वभावके सम्बन्धमें है और यहाँ जो गोस्वामीजी कह रहे हैं वह श्रीरघुनाथजीके सम्बन्धमें कह रहे हैं। जीव और ईश्वरमें बड़ा अन्तर है। मनुष्य इस दर्जेका कठोर या कोमल स्वाभाविक रीतिसे नहीं हो सकता; अत: मनुष्यके लिये यह कथन अत्युक्ति समझा जायगा। परन्तु ईश्वरके सम्बन्धमें ऐसा कथन स्वभावोक्ति है। [प्र० सं० में मैंने ऐसा लिखा था। प्र० स्वामीजी लिखते हैं कि 'उत्तररामचरित' का वाक्य साधारण मनुष्योंके विषयमें नहीं है। '**लोकोत्तराणां चेतांसि को हि विज्ञातुमर्हति।**' लोकोत्तर=असामान्य। सन्त साधु ही लोकोत्तर हैं और *'राम ते अधिक राम कर दासा'* कहा ही है—अत: उनमें अत्युक्ति नहीं है।'

पं० रा० व० श०—*'मगन भए भगवंत।'* भगवान् हैं, सब तरह परिपूर्ण हैं, तब भी प्रेम सुनकर मग्न हो गये। इतना प्रेम है तो रख क्यों न लिया? एक तो यहाँका प्रेम, दूसरे रघुनाथजीका स्वभाव कि किञ्चित् भी कोई प्रेम करे तो उसके हाथ बिक जाते हैं, इन दोनोंसे शङ्का उत्पन्न होनी आश्चर्य नहीं कि ऐसे निरतिशय द्रवीभूत होनेवालेसे विदा होनेको कैसे कहा गया और अङ्गदको विदा कैसे किया गया? कोमलता ऐसी कि प्रीति सुनकर उसमें डूब गये और कठोरता ऐसी! इसका समाधान यह है कि मर्यादापालनके

लिये इतने कठोर हो जाते हैं, इसीसे वनवास-समय कठोर होकर सबको प्रेमसे दुःखी छोड़कर चल दिये, पर उनका स्मरण कर-करके विकल हो जाया करते थे—ऐसे कोमल हैं। अङ्गदके विषयमें भी इसी मर्यादा-पालनके विचारसे कठोर हुए। दोहा १८ में देखिये। ईश्वरका ईश्वरत्व समझमें नहीं आ सकता कि ऐसा क्यों किया? उनके चित्तकी यथार्थ व्यवस्था कौन जान सकता है?

नं० प०—जब श्रीरामजीके चित्तमें अघटित घटना है तब वह चित्त किसको समझ पड़े! अब यदि कहिये कि श्रीरामजीके चित्तमें कठोरता क्यों है, तो उत्तर है 'भक्तोंके हितार्थ'। जैसे बालकके तनमें फोड़ा होनेपर माता उसके हितके लिये कठोरचित्त होकर फोड़ेको चिराती है, वैसे ही श्रीरामजीने अङ्गदके लोकहितके लिये चित्तको कठोर करके घर भेजा है और परलोकहित तो निज बसन-माल देकर सायुज्य मुक्ति दिया है। जब कोई अपने बालकको किसी दूसरेकी गोदमें देता है तो लोकसुखके लिये ही देता है। वैसे ही वालीने अङ्गदको श्रीरामजीकी गोदमें दिया था। यथा—*'मरती बेर नाथ मोहि बाली। गयउ तुम्हारेहि कोंछे घाली॥'* (१८। २) यह अङ्गदका हित कठोर होनेसे ही बनता है, अतः कठोर हुए। पुनः चित्तको कठोर और कोमल दोनों कहकर ऐश्वर्य सूचित किया, क्योंकि वह अघटित घटना है। नारदमोहमें भी चित्तको कठोर करनेसे नारदका हित हुआ।

पं० रा० कु०—*'समुझि परै कहु काहि'* इति। भाव कि यदि श्रीरामजीका स्वभाव समझ पड़े तो कोमल या कठोर न कहते बने, न समझ पड़नेसे कोमल और कठोर कहते हैं। कोमल एवं कठोर होनेका हेतु नहीं समझ पड़ता कि क्यों कोमल हुआ या क्यों कठोर हुआ। चाहि=से। यथा—*'अरि बस दैव जियावै जाही। मरन नीक तेहि जीवन चाही॥'* अर्थात् उस जीवनसे मरण नीक है। [नोट—*'चाही'* का अर्थ है 'बढ़कर'। बा० २५८ (४) में इसपर विशेष लिखा जा चुका है।]

वै०—*'समुझि परै कछु काहि।'* अङ्गदके विनयपर कठोर रहे और फिर उसका प्रेम सुन प्रेममें मग्न हो गये, ऐसे कोमल, तब कोई कैसे जान सके क्योंकि सब देखावमें भूले हैं, सच्ची बात तो प्रभुके कृपापात्र ही जानते हैं—*'तुम्हरी कृपा तुम्हहिं रघुनन्दन। जानहिं भगत भगत-उर चन्दन॥'* तहाँ सच्ची बात तो यह है कि प्रभुमें कोमलता तो सदा एकरस-परिपूर्ण है और कठोरता तो प्रयोजनमात्र है, यथा—*'जिमि सिसुतन'*।

पुनि कृपाल लियो बोलि निषादा। दीन्हे भूषन बसन प्रसादा॥ १॥

जाहु भवन मम सुमिरन करेहू। मन क्रम बचन धर्म अनुसरेहू॥ २॥

अर्थ—फिर (श्रीभरतादि भाइयों और हनुमान्‌जीके लौट आनेपर) दयालु श्रीरामजीने निषादराजको बुला लिया और उनको भूषण-वस्त्र प्रसाद दिये॥ १॥ (फिर कहा कि) घर जाओ, हमारा स्मरण करते और मन-कर्म-वचनसे धर्मपर चलते रहना*॥ २॥

टिप्पणी—१ (क) *'पुनि'* का भाव कि जब भाई भरतादि (एवं हनुमान्‌जी) पहुँचाकर लौट आये तब निषादको विदा किया। तात्पर्य कि रामजी चतुर्व्यूह-अवतार हैं—[चार कल्पोंमेंसे किसी एक कल्पमें चतुर्व्यूहके अवतार होंगे, यह हो सकता है। मानसकविने विष्णु, नारायण और साकेतविहारी द्विभुज अज-अगुण ब्रह्मके अवतार ग्रन्थमें कहे हैं]—जैसे वानरोंको पूर्णरूपसे दर्शन देकर विदा किया वैसे ही तीनों भाइयोंसहित रामजीने निषादको दर्शन देकर विदा किया। (ख) *'कृपाल'* का भाव कि निषादपर बड़ी कृपा की कि इन्हें वस्त्र-भूषण प्रसाद-दिये। प्रसाद जूठनको कहते हैं। यह जूठनका अधिकारी है; इससे इसे अपनी पहनी हुई वस्तु दी और सबोंको नयी वस्तु दी थी। पुनः, दूसरा भाव प्रसाद देनेका यह

* ततो गुहं समासाद्य रामः प्राञ्जलिमब्रवीत्। सखे गच्छ पुरं रम्यं शृङ्गवेरमनुत्तमम्॥ मामेव चिन्तयन्नित्यं भुङ्क्ष्व भोगान्निजार्जितान्।'……इत्युक्त्वा प्रददौ तस्मै दिव्यान्याभरणानि च।' (अ० रा० ६। १६। १८—२०) अर्थात् श्रीरामजीने हाथ जोड़े खड़े हुए गुहके पास जाकर कहा—'मित्र! अब तुम अपने परम रमणीय शृङ्गवेरपुरको जाओ। वहाँ मेरा चिन्तन करते हुए अपने शुभ कर्मोंसे प्राप्त हुए भोगोंको भोगो।'……यह कहकर उन्हें बहुत-सा दिव्याभूषण आदि दिया।

है कि निषादका वचन है कि—'*फिरती बार नाथ जो देवा। सो प्रसाद मैं सिरु धरि लेवा॥*' (अ०), इसीसे श्रीरामजीने उसे प्रसाद दिया।—[नोट—पर इस दूसरे भावसे निषादराज गुह और केवट जिसने पार उतारा, ये दोनों एक ही व्यक्ति होते हैं जो मानसका मत नहीं सिद्ध होता।] (ग) '*बोलि लियो*' अर्थात् जैसे सब वानरोंको अपने पास बुलाकर आदरसे विदा किया, वैसे ही इनको बुलाकर विदा किया। तात्पर्य कि राजा लोग ऐसे नीचोंको समीप नहीं बुलाते, उनको कामदार लोग ही विदा कर देते हैं, पर श्रीरघुनाथजीने ऐसा नहीं किया। (घ) '*दीन्हें*'। सब वानरोंको भूषण-वस्त्र पहनाये थे और इनको पहनाया नहीं वरन् भूषण-वसन-प्रसाद दिया। इसीसे इनके हाथमें दिया। भूषण-वस्त्र वैसे ही हैं जैसे कि औरोंको दिये गये, भेद केवल इतना है कि इनको प्रसाद करके दिये। प्रसाद देनेसे यह भी सिद्ध हुआ कि भूषण-वस्त्र बड़े अमूल्य थे, क्योंकि श्रीरामजी साधारण भूषण-वस्त्र नहीं पहनते।

नोट—निषादराजका लङ्काकाण्डके अन्तमें वर्णन हुआ तबसे अब यहाँ ही उनका नाम फिर आया है। इससे जान पड़ता है कि प्रभु इन्हें भी शृङ्गवेरपुरसे साथ ही लाये थे और तबसे ये यहीं रहे। यह बात इससे भी प्रमाणित होती है कि शृङ्गवेरपुर पहुँचकर निषादसे श्रीरामजीकी भेंट वर्णन करके फिर उससे विदा होना नहीं कहा है—'*सब भाँति अधम निषाद सो हरि भरत ज्यों उर लाइयो*' इसीपर प्रसङ्ग छोड़ दिया है। दण्डकारण्यके ऋषियों और भरद्वाजजीसे विदा होकर चलना कहा है पर यहाँ वह बात नहीं कही गयी।

टिप्पणी—'*जाहु भवन*' इति। (क) घरमें रहकर श्रीरामजीका स्मरण करे और गृहस्थका धर्म करे, गृहस्थको यही उचित है। वानरोंको घर जाने और भजन करनेका उपदेश किया, यथा—'*अब गृह जाहु सखा सब भजेहु मोहि दृढ़ नेम।*' वैसे ही यहाँ निषादराजसे कहते हैं। (ख) वानरोंसे भजन करनेको कहा—'**भज् सेवायाम्**' अर्थात् भज् धातुका 'सेवा' अर्थ है। '*भजेहु मोहि*' अर्थात् मूर्त्ति स्थापित करके हमारी सेवा करना। वानर सेवाके अधिकारी हैं, क्योंकि सब देवांश हैं। निषाद पूजाका अधिकारी नहीं है, अतः स्मरण करनेको कहा।

३—'*मन क्रम बचन धरम अनुसरेहू*' इति। शूद्रका धर्म ब्राह्मणकी सेवा है, यथा—'**शूद्रस्तु द्विजसेवया।**' भाव कि मन, कर्म और वचनसे ब्राह्मणकी सेवा करना, यथा—'*मन क्रम बचन कपट तजि जो कर भूसुर सेव। मोहि समेत बिरंचि सिव बस ताके सब देव॥*'—(आ०) ब्राह्मण मेरा रूप है, उनकी सेवा मेरी सेवा है। '*मम मूरति महिदेवमयी*' है।

वै०—'*धर्म अनुसरेहू*' अर्थात् मनसे दया, कर्मसे शौच, दान और वचनसे सत्य इत्यादि धर्ममार्गपर चलते रहना—ऐसा उपदेश इससे किया कि निषादके कुलका धर्म उत्तम नहीं है, (वे जीवहिंसक होते हैं)।

तुम्ह मम सखा भरत सम भ्राता। सदा रहेहु पुर आवत जाता॥ ३॥
बचन सुनत उपजा सुख भारी। परेउ चरन भरि लोचन बारी॥ ४॥
चरन नलिन उर धरि गृह आवा। प्रभु सुभाउ परिजनन्हि सुनावा॥ ५॥

अर्थ—तुम मेरे सखा हो और भरतसमान भाई हो। सदैव अवधपुरी आते-जाते रहना॥ ३॥ वचन सुनते ही उसको भारी सुख उत्पन्न हुआ, वह नेत्रोंमें जल भरकर चरणोंपर पड़ गया॥ ४॥ चरणकमलको हृदयमें धरकर घर आया और प्रभुका स्वभाव कुटुम्बियोंको सुनाया॥ ५॥

पं० रा० व० श०—यहाँ अक्षरोंसे प्रभुका प्रेम निषादपर प्रकट हो रहा है। प्रभु पहिले संयोगसूचक '*आवत*' शब्द कहकर तब '*जाता*' वियोगसूचक शब्द देते हैं। उसको सखा और भ्राता कहते हैं। सखा शब्द समानके लिये आता है। भला जिसे ब्रह्मादिक भी नहीं जान सकते वह निषादके समान कैसे हो सकता है? यह प्रीतिकी पहिचान है। यहाँ दिखा रहे हैं कि प्रभु अपने भावुकोंको कैसा आदर देते हैं—नहीं तो कहाँ निषाद और कहाँ प्रभु!

मा० म०—'*सदा रहेहु पुर आवत जाता*' का तात्पर्य यह है कि निषाद नित्यप्रति अयोध्याकी कचहरीमें आता-जाता था। औरोंके लिये नित्यप्रति आना-जाना दुस्तर था।—(यह भरतजीको नित्यप्रतिका समाचार देता था और बालपनेमें प्रभुके साथ शिकारमें रहता था।)

टिप्पणी—१ (क) श्रीरामचन्द्रजी निषादराजको हृदयसे भरतसमान भाई समझते हैं, यथा—'*सब भाँति अधम निषाद सो हरि भरत ज्यों उर लाइयो*' (लं० १२०)। वही बात यहाँ वे श्रीमुखसे कहते हैं। (ख) '*उपजा सुख भारी*' इति। भारी सुख होनेका हेतु यह है कि श्रीरघुनाथजीने श्रीमुखसे मुझको सखा एवं भरतसमान भाई कहा; अपना प्रसाद दिया और पुरमें सदा आने-जानेको कहा। यह बात किसी वानरसे नहीं कही थी, यह समझकर भारी सुख हुआ अर्थात् देहसुध न रह गयी, वही दशा हो गयी जो वानरोंकी हुई थी। यथा—'*सुनि प्रभु बचन मगन सब भए। को हम कहाँ बिसरि तन गए॥*' अधिक सुखसे नेत्रमें जल भर आता ही है।—(रा० प्र०—प्रेमानन्दके साथ ही वियोगसे भी नेत्र सजल हैं)। (ग) '*परेउ चरन।*' चरणोंमें पड़कर सूचित किया कि मैं आपका सखा और भरतसम भाई होने योग्य नहीं हूँ, मैं तो आपके चरणोंका सेवक हूँ।

२ (क) '*चरन नलिन उर धरि*' इति। श्रीरामजीने कहा कि हमारा स्मरण करना, वही निषादराजने किया। चरण हृदयमें धारण करना स्मरण है। (ख) परिजनोंको जाकर स्वभाव सुनाकर सुख दिया। स्वभाव यह कि ऐसे कृपालु हैं कि मुझे प्रसाद दिया, सखा कहा। जैसा शील आपत्ति-समय था उससे भी बढ़कर सम्पत्ति पानेपर देखा। (स्वभाववर्णनमें भाव यह है कि स्वभाव उसके चित्तमें विंध गया है, उसीमें मग्न है। अतः उसीको कह रहा है। दूसरे, जो स्वभाव जान लेता है वह फिर प्रभुका हो जाता है, उसके ही भजनमें लग जाता है। '*अस सुभाउ कहुँ सुनउँ न देखउँ। केहि खगेस रघुपति सम लेखउँ॥*' '*सिव अज पूज्य चरन रघुराई। मो पर कृपा परम मृदुलाई॥*' (१२४। ४, ३), जैसे यह भुशुण्डीजीने गरुड़जीसे कहा वैसे ही शीलस्वभाव वर्णन करते हुए निषादराजने परिवारसे कहा। '*उमा राम सुभाउ जेहिं जाना। ताहि भजन तजि भाव न आना॥*' (५। ३४। ३)

नोट—यहाँ इस प्रसङ्गमें लोगोंने यह शङ्का की है कि रघुनाथजीने वानरोंको अपने भाइयोंसे भी अधिक प्रिय कहा, तब उनको श्रीअवधमें ही क्यों न रख लिया? इसका समाधान कई प्रकारसे किया जा सकता है। १९ (९-१०) में भी कुछ लिखा गया है। सुग्रीवने राज्य और स्त्रीके लिये मित्रता की थी। वह मिले, उनका भोग उन्हें करना है। विभीषणके हृदयमें भी प्रथम कुछ वासना थी ही, यथा—'*उर कछु प्रथम बासना रही। प्रभुपद प्रीति सरित सो बही॥*' श्रीरघुनाथजी सत्यसङ्कल्प हैं। वे इनका तिलक करके इनको भी राजा बना चुके और रावणवध करके इनको राज्य दिया है, साथ ही '*कल्प भर*' राज्य करनेका वर दिया है। तब इन दोनोंको कैसे रख सकते थे? दूसरे, यदि विभीषण राज्यमें न रहें तो राक्षसवृन्द फिर वैसे ही हो जायँगे। विभीषण भक्तराज हैं, इनके रहनेसे प्रजा भी भक्त हो जायगी। तीसरे, यद्यपि वानर प्रेममें घरकी सुध भूल गये हैं तथापि उनके घर-परिवार आदिके लोग तो अपने पति, भाई, पिता आदिकी खबर न पाकर दुःखी ही होंगे। अङ्गदको युवराज बना चुके हैं, वालीकी हार्दिक यही इच्छा थी; उसकी पूर्त्ति जरूरी थी। राजाके न होनेसे देशमें अराजकता—अशान्ति फैल जाती है, राज्य-प्रबन्ध गड़बड़ हो जाता है। अतएव सुग्रीव, विभीषण और निषादराजको लौटाना आवश्यक था। वानरोंकी बिदाईके विषयमें यह भी कहा जा सकता है कि वे सब देवांश हैं, शरीर छोड़नेपर वे अपने-अपने अंशोंमें जा मिलेंगे। यह भी एक कारण इसका है कि फिर त्रेताके बाद द्वापरमें श्रीहनुमान्‌जी, द्विविद, मयन्द और जाम्बवन्तजीको छोड़ किसी औरका नाम सुननेमें नहीं आता। यह वानर जाति अपनी परमोच्च दशाको प्राप्त होकर नेस्तनाबूद हो गयी।

श्रीहनुमान्‌जीको अवधमें क्यों रखा? इसके कारण स्पष्ट हैं। सूर्यभगवान्‌ने गुरुदीक्षामें इनसे माँगा था कि सुग्रीवकी रक्षा वालीसे करें, वह रक्षा बालिवधपर समाप्त हो गयी, गुरु-ऋण चुक गया। जब इनका कोई काम किष्किन्धामें नहीं रह गया। दूसरे, ये परम वैराग्यवान् और श्रीरामजीके परमभक्त हैं। तीसरे, इन्होंने रामजीको परिवारसहित अपनी सेवासे ऋणी बना रखा है और श्रीरामपदप्रेम तथा सेवाके सिवा इन्होंने और कोई वर कभी माँगा ही नहीं तथा रघुनाथजी एवं श्रीसीताजी इनको ये वर दे भी चुके हैं—अतएव इनको न जानेको कह ही सकते थे और न इनके न जानेसे कहीं कोई कार्य बिगड़ता था। विशेष १९ (८) में देखिये।

शङ्का—पूर्व कहा है कि *'भरत सरिस को रामसनेही। जग जप राम राम जप जेही॥'* ऐसे भरतजीसे भी अधिक प्रिय वानरोंको कहा है। यथा—*'मम हित लागि जन्म इन्ह हारे। भरतहुँ ते मोहिं अधिक पियारे॥'* और यहाँ निषादराजसे भी कहते हैं कि *'तुम मम सखा भरत सम भ्राता।'* तो क्या श्रीभरतजीसे इनका प्रेम अधिक था? इस प्रकारकी शङ्काओंके समाधान पृथक्-पृथक् दृष्टिकोणसे पूर्व (कि०, सुं० आदिमें) आ चुके हैं। वेदान्तभूषणजी समाधान इस प्रकार करते हैं—

संसारकी जैसी मर्यादा सृष्ट्यारम्भमें परमात्माने नियत कर दी है, स्वयं भी सदैव उसका पालन करते रहना उनकी मर्यादापुरुषोत्तमता है। अनन्त बातोंमें एक यह भी मर्यादाकी बात है कि जबतक अमुक बातमें अमुक व्यक्तिसे श्रेष्ठ दूसरा कोई प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर न हो जाय तबतक वही श्रेष्ठ माना जाता है। आगे चलकर जब दूसरा कोई तत्तदर्थोंमें प्रथमसे बढ़कर मिल जाय तो उसे निःसङ्कुचित भावसे प्रथमसे श्रेष्ठ बतलाना मर्यादित न्याय है। श्रीरामजीने यही किया, अर्थात् वानरोंके त्याग एवं स्नेह देखनेके पूर्वतक *'भरत भरत सम जानि।'* एकमात्र श्रीभरतजी ही ऐसे परम प्रेमी थे कि उस समयतक उनके जोड़का दूसरा नहीं था, इसीसे अयोध्याकाण्डमें कहा गया है कि—*'भरत सरिस को राम सनेही।' 'तुम्ह सम रामहिं प्रिय कोउ नाहीं॥'* भरतजी श्रीरामजीके पितृजात सगे भाई थे, जन्मसे श्रीरामजीके वात्सल्य-स्नेहका अनुभव किये थे। स्वयं श्रीभरतजीके ही शब्द हैं—*'मोपर कृपा सनेह बिसेखी। खेलत खुनिस न कबहूँ देखी॥.........'* श्रीभरतजीके आचरणमें व्यावहारिकता न होते हुए भी व्यावहारिकताशून्य नहीं कहा जा सकता और वानरोंके सम्बन्धमें उपर्युक्त एक बात भी लागू नहीं हो सकती, क्योंकि वानरोंने श्रीरामचन्द्रका दर्शन किष्किन्धामें किया, पूर्वसे कोई परिचय नहीं था। इन्हें श्रीरामजीकी किसी कृपाका अनुभव नहीं था। फिर भी वे श्रीरामजीके लिये त्रैलोक्यविजयी रावण-ऐसे दुर्धर्ष वीरसे लड़े-मरे, तब भला वे वानरगण श्रीरामजीको श्रीभरतजीसे अधिक प्रिय क्यों न हों जब कि श्रीरामजीका स्वभाव ही है कि—*'जननी जनक बंधु सुत दारा। तनु धन धाम सुहृद परिवारा॥ सबकै ममता ताग बटोरी। मम पद मनहि बाँध बरि डोरी॥ अस सज्जन मम उर बस कैसे। लोभी हृदय बसत धन जैसे॥'* अतएव श्रीरामजीने वानरोंसे भी कहा कि *'तुम्ह अति कीन्हि मोरि सेवकाई। मुख पर केहि बिधि करौं बड़ाई॥ ताते तुम्ह मोहिं अति प्रिय लागे। मम हित लागि भवन सुख त्यागे॥ अनुज राज संपति बैदेही। देह गेह परिवार सनेही॥ सब मम प्रिय नहिं तुम्हहिं समाना। मृषा न कहौं मोर यह बाना॥'* चित्रकूटमें श्रीभरतजीने साथ रहनेके लिये जो भी दलील पेश किया, श्रीरामजीने सबका समुचित उत्तर देकर उनको अयोध्याको लौटा ही दिया; पर वानर-यूथपोंने कोई भी दलील नहीं पेश किया, अपितु—*'कहि न सकहिं कछु प्रेम बस भरि भरि लोचन बारि। सन्मुख चितवहिं राम तन नयन निमेष निवारि॥'* (६। ११७) अतएव, *'अतिसय प्रीति देखि रघुराई। लीन्हें सकल बिमान चढ़ाई॥'* और फिर सबसे मुख्य बात तो यह है कि *'भरतहु ते मोहिं अधिक पियारे।'* का कारण तो जब प्रथम ही कह दिया जाता है कि—*'मम हित लागि जन्म इन्ह हारे'* तब फिर शङ्काका अवकाश ही कहाँ रह जाता है। यही दशा निषादराज गुहकी है।

गुहने कहा था—*'देव धरनि धन धाम तुम्हारा। मैं जन नीच सहित परिवारा॥'* पर यदि यह स्वीकार नहीं किया गया तो उसका क्या दोष? और भक्तमालमें वर्णित है कि चित्रकूटसे लौटकर निषादने आँखोंपर पट्टी बाँध ली थी। यही नहीं, चौदह वर्षतक बराबर रोता ही रहा। जब आँखोंमें आँसू नहीं रह गये तब आँखोंसे खून गिरने लगा। भक्तमाल (भक्तिरस-बोधिनी) की पंक्तियाँ देखिये ये हैं—

'दारुन वियोग अकुलाइ दृग अश्रुपात, पाछे लोहू जात तब सकै कौन गाइकै।
रहे नैन मूँदि रघुनाथ बिनु देखै कहा, अहा प्रेम रीति रही मेरे मन छाइकै॥९३॥
चौदह बरस पाछे आये रघुनाथ जबै, साथ के जे भील कहैं आये प्रभु पेखिये।
बोल्यो अब पाऊँ कहा होत न प्रतीति क्यों हूँ, प्रीति करि मिले राम कही मोको पेखिये॥
परसि पिछाने लपटाने सुख सागर, समाने प्राण पाये मानो भाग माल लेखिये।
प्रेम की जू बात क्यों हूँ बाणी में समात नाँहिं, अति अकुलात कहौं कैसे कै विशेषिये॥९४॥

श्रीभरतजी श्रीरामजीकी आज्ञासे अवध लौटे पर बिना चरण-पादुका मिले उन्हें सन्तोष न हुआ। वैसे ही जब अयोध्यासे श्रीरामजीने निषादराजको विदा किया तब (चित्रकूटसे लौटनेपर जो हालत निषादकी हुई थी वही दशा पुनः शृङ्गवेरपुर पहुँचकर न हो जाय इससे) उन्हें *'दीन्हेउ भूषन बसन प्रसादा।'* (क्योंकि इनको भी बिना अवलम्ब मिले सन्तोष न होता) तब निषादराजको *'उपजा सुख भारी।'* इन्हीं कारणोंसे श्रीरामजीने निषादराजको कहा कि—*'तुम्ह मम सखा भरत सम भ्राता।'*

श्रीहरिजनजी—यह निषादराज कौन थे, इनका वृत्तान्त शिवपुराण रुद्रसंहिता ४ अ० ४० श्लो० १८–१९, ८९—९२ में इस प्रकार है कि—'एक भील शिवरात्रिके दिन कुछ आहार न पानेसे भूखा हुआ एक लोटेमें जल लिये हुए बेलके वृक्षपर चढ़कर हिरन मारनेकी घातमें छिपकर बैठा। इतनेमें एक मृगी वहाँ आयी जिसे देखते ही उसने प्रसन्न हो उसको मारनेके लिये धनुषपर बाण चढ़ाया। इस उतावलीमें उसके लोटेका जल और बेल वृक्षके पत्ते नीचे गिरे। वहाँ वृक्ष तले शिवजीका एक ज्योतिर्लिङ्ग था। वह जल और बेलपत्र उनपर पड़ा। शिवजी प्रकट हो गये और उसको दिव्य वरदान दिये—'हे व्याध! सुन। तू मनोवाञ्छित दिव्य भोगोंको प्राप्त हो शृङ्गवेरपुरमें निषादोंका राजा होगा। तेरे वंशकी वृद्धि अविनाशी होकर देवताओंसे भी प्रशंसनीय होगी और तेरे घरपर साक्षात् श्रीरामचन्द्रजी निश्चय पधारेंगे और तेरे साथ मित्रता करेंगे। वे मेरे भक्तोंपर बड़ा स्नेह करते हैं।' शिवजीने उसका नाम *'गुह'* रखा।

* वानरों और निषादकी बिदाईका मिलान *

वानर	निषादराज
१ *तब रघुपति सब सखा बोलाये*	*पुनि कृपाल लियो बोलि निषादा*
२ *'परम प्रीति समीप बैठारे। भगत सुखद मृदु बचन उचारे॥'*	*'……मोरे अधिक दासपर प्रीती'* इति।

सबको विदा करना था, उसके जीमें दुःख न हो इसलिये यह सब करना—प्रेमसे बिठाना, परम सुखद वचन बोलना और उनको समझाना—जरूरी था, ये बातें निषादके साथ करनेकी अब आवश्यकता न रह गयी। इसीसे कपिदलको पहले समझाया तब भूषण-वस्त्र दिये और इनको प्रथम भूषण-वस्त्र दिये तब जानेको कहा।

३ *सब मम प्रिय नहिं तुम्हहिं समाना*	*'तुम्ह मम सखा भरत सम भ्राता। सदा रहहु……'*
४ *सुनि प्रभु बचन मगन सब भये।*	*बचन सुनत उपजा सुख भारी*
को हम कहाँ बिसरि तन गये।	*परेउ चरन भरि लोचन बारी*
५ *अब गृह जाहु सखा सब*	*जाहु भवन मम सुमिरन करेहू।*
भजहु मोहिं दृढ़ नेम	*मन क्रम बचन धर्म अनुसरेहू॥*
६ *'तब प्रभु भूषन बसन मँगाये'* से *'पहिराये……'* तक	*दीन्हें भूषन बसन प्रसादा।*
७ *हिय धरि रामरूप सब चले नाइ पद……*	*चरन नलिन उर धरि गृह आवा।*
८ *राम बिलोकनि बोलनि चलनी।*	*प्रभु सुभाउ परिजनन्हि सुनावा॥*
सुमिरि सुमिरि सोचत हँसि मिलनी॥	(इससे निषादमें विशेषता दिखायी)

राज्याभिषेक-प्रसंग समाप्त हुआ।

श्रीरामराज्य

(त्रैलोक्यसुख, पुरवर्णन और नृपनीति-प्रसङ्ग)

रघुपति चरित देखि पुरबासी। पुनि पुनि कहहिं धन्य सुखरासी॥ ६॥
राम राज बैठे त्रैलोका। हरषित भए गए सब सोका॥ ७॥
बयरु न कर काहू सन कोई। रामप्रताप बिषमता खोई॥ ८॥

शब्दार्थ—**विषमता**=असमानता, वैर। *'धन्य'*—यह प्रशंसाद्योतक शब्द है।

अर्थ—श्रीरघुनाथजीके चरित देख-देखकर (एवं सुन-सुनकर) पुरवासी बारम्बार कह रहे हैं कि सुखकी राशि श्रीरामजी धन्य हैं॥ ६॥ श्रीरामचन्द्रजीके राज्यपर बैठने (राजा होने) से तीनों लोक हर्षित हुए और तीनों लोकोंके समस्त शोक दूर हो गये॥ ७॥ कोई किसीसे वैर नहीं करता। श्रीरामचन्द्रजीके प्रतापसे विषम भाव जाता रहा (समताभाव आ गया)॥ ८॥

☞ *'नित नव मंगल कोसलपुरी। हरषित रहहिं लोग सब कुरी॥'* (१५। ८) से प्रसङ्ग छूटा है; अब वहींसे पुनः कहते हैं—*'रघुपति चरित देखि पुरबासी………।'*

गौड़जी—*'रघुपति चरित देखि पुरबासी।'* श्रीरघुनाथजीके नित्य-नित्यके चरित, पशुओंके प्रति भी उनका उदात्त व्यवहार, निषादके प्रति सच्चा बन्धुत्व जिसके उदाहरणमात्र हैं। पुरवासी लोग देखते और सुनते रहे हैं और देखकर सदा उनके इन चरितोंपर धन्य-धन्य कहते रहे हैं। यहाँसे रामराज्यका प्रसङ्ग चलता है, उसीका उपक्रम है। भगवान्‌के चरित्र सभी ऐसे ही हैं जिनको देख और सुनकर लोग धन्य-धन्य कहते हैं, परन्तु प्रभाव केवल *'धन्य धन्य'* कहनेपर ही मर्यादित नहीं रहता। आदर्शचरित्रका प्रभाव देखने-सुननेवालोंपर अनुकरणरूपसे पड़ता है। देखने-सुननेवाला अच्छे आचरणपर उसी तरह मोहित हो जाता है, जैसे कलाका पारखी सुन्दर चित्रको देखकर। फिर भी चित्र और चरित्र दोनोंके सौन्दर्यमें एक विशेष अन्तर है। चित्रका सौन्दर्य उसके उद्भावनाकी प्रेरणा दर्शकके हृदयमें नहीं उठाता, परन्तु चरित्रका सौन्दर्य दर्शक या श्रोताको भरसक अनुकरणकी ओर प्रोत्साहित करता है—**'यथा राजा तथा प्रजाः।'** राजा धर्मात्मा हुआ तो प्रजा उसके अनुकरणमें धर्मात्मा हो जाती है। प्रजाका अर्थ है सन्तान। माता-पिता जैसे होते हैं, सन्तान भी सीखकर वैसी ही हो जाती है। इसीलिये राजाके आचरणपर प्रजाका धन्य-धन्य कहना केवल वचनकी बात नहीं है। यह इस बातका परिचायक है कि प्रजा भी राजाके आदर्शपर आचरण करती है, यद्यपि आदर्श उन्नयनके लिये है, वहाँतक पहुँचना तो मनुष्यसे सम्भव नहीं है।

यहाँ *'देखि'* शब्दमें देखना और सुनना दोनों लक्षित हैं। जब एक ही कालमें किसी सार्वजनिक क्रियाका व्यापक प्रभाव होता है तो सुनना भी देखनेके बराबर समझा जाता है। इस समय पूनेकी पर्णकुटीमें महात्माजी जो २१ दिनका महाव्रत कर रहे हैं; उसका प्रभाव जगत्-व्यापी है। महात्माके चरितको देखनेवाले पर्णकुटीमें दो-ही-चार व्यक्ति हैं; परन्तु दिनमें कई-कई बारके समाचार सुनकर सारे सभ्य जगत्‌को इस महाव्रतके समाचार बराबर मिल रहे हैं। इस प्रसङ्गपर यदि कहा जाय कि भारतवासी देख रहे हैं कि ऐसे अशक्त शरीरसे भी महात्माजी ऐसे कठोर व्रतको कैसे निबाह रहे हैं तो यहाँ 'देखना' क्रिया वाच्यार्थका द्योतक नहीं, केवल लक्ष्यार्थका है। उसी तरहसे *'देखि'* यहाँपर जाननेके अर्थमें आया है परन्तु वह ऐसा जानना है जिसका अनुकरण किया जाता है। साधारणतया अनुकरण भी देखकर ही होता है; इसलिये यहाँपर *'देखि'* शब्दमें विशेष चमत्कार है।

वि० त्रि०—*'रघुपति चरित देखि………सुखरासी'* इति। यहींपर रामराज्यका बीज निहित है। भगवान्‌ने अपने चरित्रसे धर्ममार्गकी स्थापना की। सारी प्रजा धन्य-धन्य कहने लगी और सरकारके चरित्रको अपना आदर्श माने, उसी रास्तेपर चलने लगी। यही राजधर्मका मर्म है। राजा जिस रास्तेपर प्रजाको चलाना चाहे वैसे रास्तेपर स्वयं चले। इस बातका जैसा प्रभाव प्रजापर पड़ता है वैसा किसी अन्य उपायसे नहीं पड़ता। यदि राजा सबको तो धर्मपर चलानेके लिये कानून बनाये और स्वयं अधर्माचरण करे, तो उसकी प्रजा कथमपि धर्मपथपर आरूढ़ नहीं हो सकती। यथा—**'राज्ञि धर्मिणि धर्मिष्ठाः पापे पापाः समे समाः। राजानमनुवर्तन्ते यथा राजा तथा प्रजाः॥'** राजाके धर्मात्मा होनेसे प्रजा धर्मात्मा होती है, पापी होनेसे प्रजा पापी होती है, राजाके सम होनेसे प्रजा भी सम होती है। प्रजा राजाका अनुवर्तन करती है। जैसा राजा होता है, वैसी प्रजा होती है।

टिप्पणी—१ (क) *'रघुपति चरित'* यह जो देखा कि कैसी वानरोंकी और निषादकी बड़ाई की और उनपर कृपा की। (ख) *'देखि'* का भाव कि शबरी, गीधादिपर जो कृपा की वह चरित सुने

हैं और यह आँखों देखा है। (ग) *'पुनि पुनि कहहिं'* इति। भाव कि चरित देख बड़ा सुख हुआ, आनन्दमें बार-बार कहते हैं। वा, श्रीरामजीका पृथक्-पृथक् चरित देखकर पुरवासी पुनः-पुनः धन्यवाद देते हैं। वानरोंकी बड़ाई की, यह देख धन्य कहा और भी सब चरित देख-देख धन्य-धन्य कहते हैं। (घ) ☞श्रीरामजीके सब चरित्रोंमें सुख है, इसीसे 'सुखराशि' कहा। पुनः ब्रह्मानन्द सुखकी राशि है।

२ *'राम राज बैठे त्रैलोका........।'* इति। त्रिलोकी हर्षित हुआ। ☞श्रीरामजी त्रैलोक्यपति हैं, इसीसे तीनों लोकोंका हर्षित होना और तीनोंका शोकरहित होना कहा। इसीसे जैसा माधुर्यमें कहना चाहिये था कि पृथ्वीभरका शोक दूर हुआ वैसा नहीं कहा। 'त्रिलोकी हर्षित हुआ कहकर दिखाया कि श्रीरामचन्द्रजीमें सबका प्रेम है, प्रेम न होता तो रामराज्यसे हर्ष क्यों होता? प्रेम और हर्ष इससे है कि उन्होंने रावणादिका वध कर सबको सुखी किया है अथवा रामराज्यके प्रभावसे सब हर्षित हुए और सबके शोक दूर हुए।

३ *'बयरु न कर काहू सन कोई........'* इति। (क) वैर नहीं करते यह कहकर उसका हेतु बताते हैं कि यह रामप्रताप है कि विषमभाव नष्ट हो गया और समताका विस्तार हुआ।

नोट—उदासीनता, मित्रता और शत्रुता—ये तीन भाव जीवोंमें होते हैं, यथा—*'उदासीन अरि मीत हित सुनत जरहिं खल रीति।'* यहाँ *'बिषमता खोई'* कहकर जनाया कि शत्रुताका भाव जाता रहा, *'निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध'* यह समताभाव रह गया। विषमका उलटा सम है, यथा—*'तदपि करहिं सम बिषम बिहारा'* 'विषमता गयी' अर्थात् 'समता रह गयी।' यहाँ प्रथम उल्लास अलङ्कार है।

दो०—बरनाश्रम निज निज धरम निरत बेदपथ लोग।
चलहिं सदा पावहिं सुखहिं* नहिं भय सोक न रोग॥ २०॥

अर्थ—सब लोग अपने-अपने वर्ण और आश्रमके (वेदोक्त) धर्मोंमें तत्पर (लगे) रहते हैं, वेदमार्गपर चलते हैं और सदा सुख पाते हैं†। उन्हें न भय है, न शोक और न रोग॥ २०॥

नोट—वर्णाश्रम-धर्म सभी स्मृतियोंका विशेष विषय है। उसके लिये यहाँ कोई अवतरण देना हास्यास्पद होगा। महाभारत आदिपर्व अ० ८४ (इण्डियन प्रेस संस्करण), भा० ११ अ० १७ तथा १८ में भी दिये हैं। पाठक देखना चाहें तो उन ग्रन्थोंमें देख लें। २—*'बेदपथ'* में वेदसे यहाँ तात्पर्य है 'गृहसूत्र' से जिनमें वर्णाश्रमधर्म बड़ी सूक्ष्मतासे बताये गये हैं।

विप्रधर्म वेदविद् इत्यादि होना, क्षत्रियधर्म समरसे न भागना, प्रजाको प्राणप्रिय मानना और वैश्यधर्म अतिथि-सत्कार है, यथा—*'सोचिय बिप्र जो बेद बिहीना।........'* (२। १७२) *'क्षत्रिय तन धरि समर सकाना।'* कुलकलङ्क (१। २८४) *'सोचिय नृपति जो नीति न जाना। जेहि न प्रजा प्रिय प्रान समाना॥'* (२। १७२) *'सोचिय बयसु कृपिन धनवानू........'* आश्रम चार हैं—ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास। इनके धर्म, यथा—*'सोचिय बटु निज ब्रत परिहरई। जो नहिं गुर आयसु अनुसरई॥ सोचिय गृही जो मोह बस करइ करमपथ त्याग।' 'सोचिय जती प्रपंच रत बिगत बिबेक बिराग॥'* (अ० १७२) *'बैखानस सोइ सोचै जोगू। तपु बिहाइ जेहि भावइ भोगू॥'* ब्रह्मचर्य-आश्रममें सब प्रकारके व्यसन निषिद्ध माने गये हैं। उनसे दूर रहकर गुरुकी सेवामें रहकर अध्ययन करना धर्म है, इसके बाद विवाह करके स्त्री-पुत्रादिके साथ रहकर अपना धर्म पञ्चमहायज्ञ आदि निबाहना होता है। पचास वर्षकी अवस्था होनेपर

* का०, भा० दा०, १८४२ में 'सुखहिं' पाठ है। 'सुख' बं० पा० और गुटकामें है।

† 'प्रजाः स्वधर्मनिरता वर्णाश्रमगुणान्विताः।' भा० ९। १०। ५१ '........नाधिव्याधिजराग्लानिदुःखशोकभयक्लमाः। मृत्युश्चानिच्छतां नासीद्रामराजन्यधोक्षजे॥'(५४) दोहा २० (७) से दो० २१ तकका संक्षिप्त वर्णन इस उद्धरणमें है। वामनपुराणके 'मखाकभूम्यात्रृपतयो यजन्ते विधिवत्तदा। ब्राह्मणाश्च तपोधर्मं तीर्थयात्रांश्च कुर्वते॥ वैश्याश्च पशुवृत्तिस्थाश्शूद्राश्शुश्रूषणे रताः।' इस श्लोकसे इस दोहेका भाव स्पष्ट हो जाता है। अर्थात् राजालोग विधिपूर्वक यज्ञ करते थे, ब्राह्मण तपोधर्म और तीर्थयात्रा करते, वैश्य पशु (गौ-बैल) का पालन करते और शूद्र सेवामें तत्पर रहते थे।

वनमें रहकर पूर्ण वैराग्यवान् होना वानप्रस्थ धर्म है और अन्तिम संन्यास है जिसके अनेक विधान शास्त्रोंमें कहे गये हैं। इस कथनसे शम्बूक शूद्रके तपकी कथा भी आ गयी। धर्मविरुद्ध करनेसे एक अल्पमृत्यु हुई थी, अतः उसका निवारण किया गया, जिससे विप्रका पुत्र पुनर्जीवित हो गया।

गौड़जी—गोस्वामीजी प्राचीन निगमागमपद्धतिके बड़े कट्टर अनुयायियोंमें थे। सारे मानसकाव्यमें बराबर प्राचीन सनातन रीतियोंकी प्रशंसा की है। कलिधर्मनिरूपणके बहाने वे कहते हैं—*'बरन धरम नहिं आश्रम चारी। श्रुति-बिरोधरत सब नर नारी॥'* वर्णाश्रम धर्मके वे कट्टर अनुयायी थे, स्वयं त्यागी थे; परन्तु संसारको वैरागी बनानेके पक्षके न थे। भरतजीको समझाते हुए वसिष्ठजी कहते हैं कि वेदविहीन ब्राह्मण जो अपने धर्मको छोड़ भोगविलासमें लगा हो, राजा जो नीति नहीं जानता, जिसे प्रजा प्राणोंके समान प्रिय नहीं, वैश्य जो धनवान् हो पर कृपिण हो और अतिथि-सेवा न करता हो, विद्वानों, ब्राह्मणोंका अपमान करनेवाला शूद्र जो बकवादी हो, अभिमानी हो, अपने ज्ञानका घमण्डी हो, पतिवञ्चक नारी जो कुटिला, लड़ाका और आवारा हो, वटु जो व्रतत्यागी हो, गुरुकी अवज्ञा करता हो, गृहस्थ जो अज्ञानसे कर्मका त्याग करे, संन्यासी जो प्रपञ्चमें फँसा विवेक-वैराग्यहीन हो, वानप्रस्थ जो तप छोड़ विलासप्रिय हो—ये सभी शोकके योग्य हैं। स्पष्ट है कि गोस्वामीजी वर्णाश्रम धर्मके कितने बड़े पोषक हैं।.........

भुशुण्डिके प्रति भगवान्के मुखारविन्दसे गोस्वामीजी यह कहलाते हैं कि *'सब ते अधिक मनुज मोहि भाये।'* मर्यादापुरुषोत्तम नीच-से-नीच निषादको *'जासु छाँह छुइ लेइअ सींचा'*, गले लगाते हैं। क्यों? क्या वर्णाश्रम धर्मके विपरीत आचरण करते है? नहीं, जैसा कहते हैं, ठीक वैसा ही करते हैं। सब प्राणी भगवान्के उपजाये हैं, सब उनको प्यारे हैं; परन्तु मनुष्य सबसे अधिक प्यारे हैं, जिन भगवान्ने *'प्रभु तरु तर कपि डार पर ते किय आपु समान'* जानवरोंको अपने समान आदर दिया, वे मनुष्योंको, जो उन्हें अधिक प्यारे हैं क्यों न गले लगावें? स्वयं निषादको गले लगाकर उस समयकी धर्मध्वजताको अर्द्धचन्द्र देकर राज्यसे बाहर निकाल दिया तभी तो *'राम सखा रिषि बरबस भेंटे।'* मर्यादापुरुषोत्तमने जो मार्ग खोल दिया, उसपर पीछे वसिष्ठादि उस समयके सभी बड़े लोग चले। रामराज्यमें अछूतका आदर था। शबरीके बेर प्रेमके माधुर्यसे तर थे। गीधकी मैत्री भगवान्के लिये प्राण-विसर्जन करती है.........। और तो और अछूत धोबीके उपालम्भपर, जो सचमुच एक नीच प्रजा थी, सीखगाँठ बाँधी।.........

वानर, राक्षस, दानव, कोल, भील, किरात, गीध, व्याध सभी श्रीरामचन्द्रजीके निकट बराबर थे। परन्तु बराबरीका यह अर्थ कदापि न था कि एक वर्णमाला अपनेसे भिन्न वर्णके धर्म पालने लगे, एक आश्रमवाला अपने आश्रमका कर्तव्य छोड़ अन्य आश्रमियोंके कर्तव्य पालन करने लगे।—(यही आशय) *'बरनाश्रम निज निज धरम निरत बेदपथ लोग', 'चलहिं स्वधरम निरत श्रुति नीती'* (का है)। गीतामें भी कहा है—**'श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्। स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः॥'**—(भूमिकासे उद्धृत)

वि० त्रि०—*'बरनाश्रम निज निज धरम निरत'* कहनेके बाद भी 'लोक वेद-पथसे चलते थे' इस बातके कहनेकी आवश्यकता हुई। क्योंकि *'भूमि सप्त सागर मेखला। एक भूप रघुपति कोसला॥'* रामजीका राज्य तो सातों द्वीपोंमें था और सातों द्वीपोंमें वर्णाश्रम धर्म नहीं चलता, अतः लिखते हैं कि जो वर्णाश्रम धर्मी नहीं थे वे भी वेदमार्गपर चलते थे। वेद तो सरकारकी वाणी है, वह तो सम्पूर्ण संसारके कल्याणके लिये है। जो वर्णाश्रमी नहीं हैं; उनके लिये सामान्य धर्म है जैसे सनातन धर्म कहते हैं। यहाँ एक रहस्य है, जिससे कम लोग परिचित हैं। सनातन धर्म मनुष्यमात्रका धर्म है, उसे वर्णाश्रमी तथा अवर्णाश्रमी सबको पालन करना चाहिये। जिनका जन्म-कर्म परम्परासे विशुद्ध चला आता है, वर्णाश्रमधर्म केवल उन्हींके लिये है। श्रीमद्भागवतमें इसका विस्तार है। वह सनातन धर्म तैंतीस लक्षणवाला है। जितने मत संसारमें प्रचलित हैं, उनमेंसे कोई उन तैंतीससे इनकार नहीं कर सकता। वे सनातन धर्म इसलिये कहलाते हैं कि उनमें परिवर्तन किसी देश या कालमें नहीं हो सकता, जबतक मनुष्य जातिको अपने उच्चपदपर बना रहना है, तबतक सनातन धर्मको तो मानना ही पड़ेगा।

प० प० प्र०—*'सोक न रोग'* इति। दु:ख तो प्रारब्ध और क्रियमाण कर्मोंमेंसे पापात्मक कर्मोंका फल ही है। रोगका न होना कहकर जनाया कि श्रीरामराज्यमें लोगोंका प्रारब्धकर्म नष्ट हो गया और कोई पापकर्म नहीं करते हैं। *'सुख चाहहिं मूढ़ न धर्मरता'* से भी वही सिद्ध होता है कि सभी लोग पुण्यकर्म-धर्माचरण करते हैं। शोक-काम-क्रोधादि दोषजनित (और वियोगजन्य भी) होता है। अत: यह सूचित किया कि सभी लोग क्रोधादि षड् रिपुओंसे मुक्त हैं। किसीको वियोग-जनित शोक-दु:ख भी नहीं है। *'बहुरोग बियोगन्हि लोग हए। भवदंघ्रि निरादर के फल ए'* से मिलान करनेसे सिद्ध हुआ कि सभी लोग रामभक्तिरत हैं।

टिप्पणी—१ (क) धर्मका फल सुख है, वे धर्म करते हैं; अतएव सुख पाते हैं। प्रथम वर्ण है पीछे आश्रम, अत: उसी क्रमसे लिखा। (ख) किसीको भय नहीं, क्योंकि यहाँ कोई किसीसे वैर नहीं करता। जब कोई किसी दूसरेको भय देता है तब आप भी भय पाता है, पर यहाँ कोई किसीको भय नहीं देता तब उसको भय क्योंकर हो? (ग) किसीको रोग नहीं होता क्योंकि कोई विषयीकी तरह भोगासक्त नहीं होता, भोगमें ही रोगका भय होता है—**'भोगे रोगभयम्'** इति (भर्तृहरि)।

दैहिक दैविक भौतिक तापा। रामराज नहिं काहुहि ब्यापा॥ १॥
सब नर करहिं परस्पर प्रीती। चलहिं स्वधर्म निरत श्रुति नीती*॥ २॥

अर्थ—श्रीरामराज्यमें दैहिक, दैविक और भौतिक ताप किसीको नहीं व्यापते॥ १॥ सब मनुष्य आपसमें प्रेम करते हैं, अपने-अपने धर्मपर चलते हैं और वेदोंकी बतायी हुई नीतिपर प्रेम करते एवं लगे रहते हैं॥ २॥

नोट—*'दैहिक दैविक भौतिक'*, इसीको आधिदैहिक, आधिदैविक और आधिभौतिक कहते हैं। श० सा० में लिखा है कि 'सुश्रुतमें सात प्रकारके दु:ख गिनाये गये हैं। उनमेंसे तीन—कालबलकृत (बर्फ इत्यादि पड़ना, वर्षा अधिक होना, इत्यादि), देवबलकृत (बिजली पड़ना, पिशाचादि लगना) और स्वभावबलकृत (भूख-प्यासादिका लगना)—आधिदैविक कहलाते हैं। ये यक्ष, देवता, भूत-प्रेतादिद्वारा होनेवाले दु:ख हैं। आधिभौतिक दु:ख वह है जो व्याघ्र, सर्पादि जीवों या शरीरधारियोंद्वारा प्राप्त होता है। सुश्रुतमें रक्त और शुक्रदोष तथा मिथ्या आहार-विहारसे उत्पन्न व्याधियोंको इसीके अन्तर्गत माना है। व्यापना=किसीके अन्दर फैलना। और गौड़जी कहते हैं कि—वह सारे कष्ट जो मिथ्या आहार-विहार और देह-संसर्गसे उत्पन्न होते हैं, दैहिक ताप कहलाते हैं। जैसे साधारण ज्वर, अतिसार, उदरामय इत्यादि। और वह सारे कष्ट जो कीट-पतङ्गादि सूक्ष्म प्राणियोंसे लेकर आवागमनशील प्रेतों और पितरोंके आक्रमणसे होते हैं, भौतिक ताप कहलाते हैं। और जैसे मच्छड़-खटमलोंका काटना, बिच्छू और साँपका डसना, सिंह या और हिंस्र जन्तुओंका आक्रमण या मानवी शत्रुका प्रहार, या चुड़ैल-भूत-पितर आदिका लगना। वह सब कष्ट जो आकाशीय ग्रहोंकी गतिके कारण, अग्नि, जल, वायु या पृथ्वीके उपद्रवोंके कारण अथवा अनेक तरहके संक्रामक रोगोंके कारण होते हैं, 'दैविक ताप' कहलाते हैं। देवयोनिमें तत्त्वों और अमर-भूतों-पिशाचों और पितरोंकी भी गिनती है। किन्नर, गन्धर्व, विद्याधर आज भी देवता हैं। देवयोनिसे जितने कष्ट होते हैं, वे 'दैविक-ताप' कहलाते हैं। जैसे देवयोनिजनित सभी तरहके आगन्तुक उन्माद, देवोन्माद, पितरोन्माद, यक्षोन्माद इत्यादि, बिजलीका गिरना, आगका लगना, भूकम्प जलप्लावन, कड़क, हैजा, चेचक, प्लेग, इन्फ्लूयन्जा, इत्यादि-इत्यादि। तीनों ताप जब प्रबल रूपसे सताते हैं तब साधारणतया अकालमृत्यु हो जाती है। अत्यन्त वृद्धावस्थामें तापजनित कष्ट कम होते हैं। क्षत्रियकी रणभूमिमें केवल भौतिक तापसे मृत्यु होती है। बिजलीका मारा हुआ केवल दैविक तापसे मरता है। आत्महत्या करनेवाला यदि दैवी और भौतिक कारणोंसे प्रेरित नहीं है, केवल दैहिक तापसे मरता है। परन्तु अधिकांश मृत्युएँ दो या तीन तापोंके बिना नहीं होतीं। यहाँ श्रीरघुनाथजीके राज्यमें तीनोंमेंसे किसी प्रकारका ताप किसीको नहीं सताता। सब अपनी पूरी अवस्थाको पहुँचकर ही मरते हैं। बुढ़ापे और बीमारीका कष्ट किसीको नहीं होता।

* रीती—का०। नीती—भा० दा०, १८१७, १८१८, १८४२, रा० गु०।

टिप्पणी—१ अयोध्यावासियोंको भय, शोक और रोग नहीं व्याप्त होता। इसीपर फिर कहते हैं कि रामराज्यमें दैहिकादि ताप जड़-चैतन्य किसी जीवको नहीं व्याप्त होते। रोग दैहिक ताप है, शोक दैविक है और भय भौतिक है।

२ *'सब नर करहिं·········'* इति। (क) पहले कह आये कि कोई किसीसे वैर-विरोध नहीं करता। अब बताते हैं कि वैर नहीं करते तो करते क्या हैं? सब एक-दूसरेसे प्रेम करते हैं, इत्यादि। (ख) परस्पर प्रेम करते हैं यह कहकर उनको लोकरीतिमें सावधानता बतायी और स्वधर्मपर चलते हैं, श्रुति-नीतिमें निरत हैं, इससे वेदरीतिकी निपुणता कही। इस प्रकार सबको लोक एवं वेद दोनोंकी रीतिमें सावधान दिखाया। अथवा, अपने धर्ममें चलते हैं यह वेद-रीति है, श्रुतिकी नीतिसे चलते हैं यह लोक-रीति है। दोनोंमें प्रवीण हैं। (ग) पूर्व कहा था कि *'निरत बेदपथ लोग'* और यहाँ कहते हैं कि *'निरत श्रुति नीती'* (दोनों एक ही बातें जान पड़ती हैं जिससे पुनरुक्ति होती है। पर दोनों एक नहीं हैं, दो बातें हैं) ऐसा कहकर सूचित करते हैं कि रामराज्यमें केवल वेदमार्ग था, कल्पित मार्ग उस समय कोई न था। [पुनरुक्ति नहीं है; क्योंकि वहाँ *'पावहिं सुखहिं'* से सकाम कर्म कहे गये हैं और यहाँ वैसा कोई शब्द नहीं है। अतएव यहाँ निष्काम धर्मसे तात्पर्य है। इस तरह दोनों जगह दो विषय कहे गये हैं। (सि० ति०)]

मा० म०—☞ *'दैहिक दैविक·········ब्यापा'* इसका नित्यप्रति प्रातःकाल १०८ बार जप करनेसे त्रिताप न व्यापेंगे।

चारिउ चरन धर्म जग माहीं। पूरि रहा सपनेहुँ अघ नाहीं॥ ३॥
रामभगति रत नर अरु नारी। सकल परम गतिके अधिकारी॥ ४॥

अर्थ—धर्म अपने चारों चरणोंसे जगत्‌में परिपूर्ण बना रहा। स्वप्नमें भी पाप (जगत्‌में) न था॥ ३॥ स्त्री-पुरुष सब रामभक्तिमें तत्पर हैं, सब परम गतिके अधिकारी हैं॥ ४॥

टिप्पणी—१ (क) *'चारिउ चरन'* इति। भाव कि सत्ययुगमें धर्मके चार चरण रहते हैं, त्रेतामें तीन चरण रहते हैं; पर रामराज्यमें त्रेतामें भी धर्म चारों चरणोंसे पूर्ण रहा है। यथा—'**त्रेतायां वर्तमानायां कालः कृतसमोऽभवत्।**' (भा० ९। १०। ५१) धर्मके चरण ये हैं—सत्य, शौच, दया और दान, यथा—'**सत्यं शौचं दया दानमिति पादाः प्रकीर्तिताः**' इति (मनुस्मृति)। [भा० १। १७। २४ में तप, शौच, दया और सत्य—चार पाद कहे गये हैं—'**तपः शौचं दया सत्यमिति पादाः कृते कृताः। अधर्मांशैस्त्रयो भग्नाः स्मयसंगमदैस्तव॥**' राजा परीक्षित्‌ने वृषभरूपधारी धर्मसे कहा कि (सत्ययुगमें) आपके तप, शौच, दया और सत्य ये चार चरण बताये गये हैं। इस समय (कलिके आगमनपर) अधर्मके अंश गर्व, आसक्ति और मदके द्वारा उनमेंसे तीन नष्ट हो गये। मानसकारका मत मनुके अनुसार है—दोहा १०३ *'प्रगट चारि पद धर्मके····दान करइ कल्यान।'* देखिये।] (ख) *'सपनेहुँ अघ नाहीं'* इति। अघसे यहाँ धर्मका नाश करनेवाले चार पाप सूचित किये। ये अधर्मके अंश हैं। असत्यसे सत्यका नाश है। सङ्गसे शौचका नाश है। असत्य, सङ्ग, कठोरतासे दयाका नाश है। लोभसे दानका नाश है। असत्य, सङ्ग, कठोरता और लोभ—ये पाप स्वप्नमें भी नहीं हैं। इसीसे चारों चरणोंसे धर्म पूर्ण रहा है। पुनः, *'सपनेहुँ अघ नाहीं।'* का भाव कि जो देखो-सुनो, उसीका स्वप्न होता है। लोग धर्म ही देखते-सुनते हैं, इसीसे स्वप्नमें भी धर्म ही देखते हैं, पाप स्वप्नमें भी नहीं देखते, जाग्रत्‌की कौन कहे। ('स्वप्नमें भी नहीं' यह मुहावरा है जिसका अर्थ है 'कहीं कभी किञ्चित् भी नहीं है')

२ *'रामभगति रत·········'* इति। प्रथम धर्म कहा, यथा—*'चारिउ चरन धर्म जग माहीं।·········'*, पीछे भक्ति कही। इस क्रमका भाव यह है कि धर्मसे रामभक्ति मिलती है, यथा—*'**जप जोग धर्मसमूह ते नर** भगति अनुपम पावई।'*

नोट—१ *'भगति रत'* का भाव कि सब श्रीरामजीके चरणोंका ध्यान किया करते थे, उनको पिता-समान मानकर उनकी भक्ति, सेवा, प्रीति, आज्ञापालन इत्यादि करते थे। भक्तिमें सभी भाव आ गये, यथा—'**प्रजाः स्वधर्मनिरता वर्णाश्रमगुणान्विताः॥ जुगोप पितृवद्रामो मेनिरे पितरं च तम्॥**' (भा० ९। १०। ५०-५१) (अर्थात्

स्वधर्मनिरत तथा वर्णाश्रमगुणयुक्त प्रजाका पालन श्रीरामजी पिताकी भाँति करने लगे और प्रजा भी उनको पिताके समान मानती थी), **'बुभुजे च यथाकालं कामान् धर्ममपीडयन्। वर्षपूगान्बहून्नृणामभिध्याताङ्घ्रिपल्लवः॥'** (भा० ९। ११। ३६) (अर्थात् जिनके चरणारविन्दका ध्यान मनुष्य सदैव करते हैं वे श्रीरामजी नियमानुसार सुखका अनुभव करते हुए विराजमान हैं।) पुनः, 'भक्ति' से नवधादि भक्तियाँ जना दीं।

२ सब जीते-जी परमभक्तिके अधिकारी हैं अर्थात् सब जीवन्मुक्त हो रहे हैं। स्त्रियाँ भी रामभक्ति करती हैं, जैसे पार्वतीजी नाम जपती हैं, यथा—*'जपति सदा जपि जेई पिय संग भवानी'* (पं० रा० कु०)।

रा० प०, रा० प्र०—*'सकल परम गति के अधिकारी'* कहकर जनाया कि उस समयके आनेपर सब परमपदको जायँगे, अब परमधाम-गमनकी कथा नीरस जानकर न लिखेंगे। *'अवधहि में प्रभु प्रगट भए हैं अवधहि में पुनि रहे समाय।'* यहाँ *'किमि गवने निज धाम'* का उत्तर है।

अल्प मृत्यु नहिं कवनिउ पीरा। सब सुंदर सब बिरुज सरीरा॥५॥
नहिं दरिद्र कोउ दुखी न दीना। नहि कोउ अबुध न लच्छन* हीना॥६॥

शब्दार्थ—**अल्प** मृत्यु=थोड़ी अवस्थामें जो मृत्यु होती है; अकाल मृत्यु। **लच्छन, लक्षण**=सामुद्रिकके अनुसार शरीरके अङ्गोंमें होनेवाले कुछ विशेष चिह्न जो शुभ माने जाते हैं। गुणविशेष। लच्छन शरीरपर कर्मानुसार जन्मसे ही पड़े होते हैं।

अर्थ—अकालमृत्यु नहीं होती (सब पूर्ण आयु भोग करते हैं), न किसीको कोई पीड़ा होती है। सबका शरीर सुन्दर और नीरोग रहता है॥ ५॥ न कोई दरिद्र है, न दुःखी और न दीन ही है। न तो कोई निर्बुद्धि है और न लक्षणोंसे रहित है अर्थात् सब बुद्धिमान् हैं, सुलक्षणयुक्त हैं॥ ६॥

टिप्पणी—१ *'अल्प मृत्यु नहिं........'* इति। (क) धर्म और भक्ति कहकर तब *'अल्प........'* इत्यादि कहनेका भाव कि धर्म और भक्तिसे अल्पमृत्यु आदि अरिष्ट कोई नहीं होते। कोई भी पीड़ा नहीं है अर्थात् आधिव्याधि (मानसिक तथा शारीरिक व्यथा) से रहित हैं। [*'अल्पमृत्यु नहिं'* से जनाया कि कोई पुत्र पिताके सामने, पति स्त्रीके रहते इत्यादि, नहीं मरता। **'वृद्धेषु सत्सु बालानां नासीन्मृत्युभयं तथा', 'न पर्यदेवन्विधवा न च व्यालकृतंभयम्।'** (अ० रा० १६। ३०, २९) (अर्थात् रामराज्यशासन-समय कभी विधवाओंका क्रन्दन नहीं हुआ। वृद्धोंके रहते बालकोंकी मृत्युका भय नहीं था)। *'अल्प मृत्यु'* कहकर *'नहिं कवनिउ पीरा'* कहनेका भाव कि मरण-कालमें भी कष्ट नहीं होता।] (ख) *'सब सुंदर सब बिरुज सरीरा'* से सूचित किया कि पीड़ा और रोग सुन्दर शरीरके बाधक हैं सो ये दोनों किसीको नहीं हैं, इसीसे सब सुन्दर हैं।

२ (क) *'नहि दरिद्र कोउ दुखी न दीना........।'* दारिद्र्य सब दुःखोंसे भारी दुःख है, यथा—*'नहिं दरिद्र सम दुख जग माहीं।'* इसीसे दरिद्रको प्रथम कहा। सब दुःख ओर दीनता दारिद्र्यसे है। (ख) *'लच्छन हीना'* होना पापका फल है और पाप कोई करता ही नहीं। अतः कोई लक्षणहीन नहीं है। लक्षणसे शरीरके लक्षण जानो।

वै०—*'शुक्लरूप अरु शीलगुण सत्य पराक्रम जान। सुचित आत्म अभ्यास गनि वर विचार परिमान॥ शस्त्रज्ञान ज्ञानी परम पूरण परतियत्याग। मानी पुनि लोकेश गनि और दासत्व विभाग॥ विद्यापुष्टि बखानिये प्रियवादी शुभ अंग। आत्मकाम सूक्षम बहुत गुण परिपूरण अंग॥ मातु पिता गुरुभक्त है मन बच कर्महि जान। रूपकर्ण जितइन्द्रियो दाता धर्मनिधान॥ सुरपूजन निद्रा अलप स्वल्प अहारी होइ। ये बत्तिस लक्षणयुत बिरले युगमें कोइ॥'*

मा० म० ☞*'अल्प मृत्यु नहिं कवनिउ पीरा।'* यह मृत्युञ्जयका मन्त्र है। कामामृतके लिये यह मन्त्र श्रेष्ठ है। इसे मध्याह्नकालमें जपना चाहिये। *'नहिं दरिद्र......'* ये दोनों चरण लक्ष्मीके दाता हैं, इन्हें सन्ध्यामें जपे।

* लच्छन—(का०), लच्छन—भा० दा०। भा० दा० में जहाँ-तहाँ 'क्ष' ही है।

सब निर्दंभ धर्मरत घृनी*। नर अरु नारि चतुर सब गुनी॥७॥
सब गुनज्ञ पंडित सब ज्ञानी। सब कृतज्ञ नहिं कपट सयानी॥८॥

अर्थ—सब दम्भरहित हैं, धर्मरत हैं (अर्थात् दम्भरहित धर्म करते हैं, दिखानेके लिये नहीं करते) और दयावान् हैं। सब स्त्री-पुरुष चतुर और गुणवान् हैं (अर्थात् सब अपने-अपने गुणमें प्रवीण हैं)॥७॥ सब गुणोंके ज्ञाता हैं (अर्थात् गुणको जानते-पहिचानते हैं, गुणोंके पारखी हैं), सब पण्डित हैं, ज्ञानी (अर्थात् शास्त्रीय ज्ञानको जानते) हैं। सब उपकार माननेवाले हैं, कपट और सयानापन (धूर्तता) किसीमें नहीं हैं॥८॥

नोट—'*धर्मरत घृनी*' इति। इस जगह केवल दो प्राचीन प्रतियोंमें '*घृनी*' पाठ है और प्रायः शेष सभीमें '*पुनी*' है। '*पुनी*' का अर्थ है 'और'। यह कोई विशेष प्रयोजनीय शब्द नहीं है, केवल अगले-पिछले शब्दोंको जोड़नेवाला अव्यय है। '*घृनी*' शब्द बहुत प्रयोजनीय है। संस्कृतमें 'घृणिन्' शब्दका अर्थ है दयाशील, करुणाशील। जान पड़ता है कि 'घृणा' का तिरस्कारी वाच्यार्थ समझकर मानसरसिकोंने समझा कि '*घृनी*' शब्द लेखप्रमादका फल है और शुद्ध शब्द '*पुनी*' है। परन्तु '*घृनी*' शब्द दयाशील, करुणाशीलका वाचक होते हुए '*धर्मरत*' शब्दके अर्थका अनुत्तम पोषक है। धर्मरत शब्द दो मर्यादक शब्दोंके बीचमें रखा गया है। एक ओर निर्दम्भ शब्द है जो यह कहता है कि लोग धर्मात्मा बनने या कहे जानेके लिये धर्मरत नहीं हैं, सच्चे दिलसे अपना कर्तव्य समझकर धर्मका पालन करते हैं, परन्तु ऐसी बात भी नहीं है कि दूसरोंकी निन्दा-स्तुतिकी पर्वा धर्माचरणमें नहीं है तो साथ ही औरोंकी ओरसे उपेक्षा हो। अपने कर्तव्योंके कठोर पालनका नाम धर्म है सही, परन्तु अपने लिये कठोरता करते हुए भी धर्मपालनमें उन धर्मरतोंका भाव करुणा और दया है। जैसे कोई धर्मरत किसी कठोर धर्मव्रतका पालन करता है, क्योंकि वह धर्मके लिये कष्ट उठानेमें समर्थ है, परन्तु साथ ही उसका कोई निकटवर्ती अपने दौर्बल्य और अशक्यताके कारण उस व्रतका पालन नहीं कर सकता तो वह '*धर्मरत*' उसकी ओर उपेक्षाकी दृष्टिसे नहीं देखता, बल्कि करुणा और दयासे अभिभूत हो उसकी भरसक सहायता करता है और यदि फिर भी वह व्रत नहीं निबाह सकता तो दयावश उस व्रतको अपने ऊपर ले लेता है। इसीलिये उसकी धर्ममें रति करुणा और दयासे पूरित है। एक ओरसे निर्दम्भ है और दूसरी ओरसे घृणी है। '*पुनी*' में ऐसा कोई भाव नहीं है अतः हम '*घृनी*' को समीचीन पाठ मानते हैं।—(गौड़जी)

टिप्पणी—१ (क) ('*निर्दंभ धर्मरत*'—अधर्मरत होनेसे दम्भ होता है, उस अधर्मको छिपानेके लिये धर्मका आडम्बर किया जाता है। जब अधर्म नहीं तब दम्भ क्योंकर हो।) '***चतुर सब गुनी***' अर्थात् बाहरसे गुणी हैं और भीतर चतुर हैं। गुणी हैं अर्थात् गुणको करते हैं और गुणज्ञ हैं अर्थात् गुणको जानते हैं। **पंडित=समदर्शी**, यथा—'**पण्डिताः समदर्शिनः।**' (ख) गुणी, गुणज्ञ, पण्डित और ज्ञानी—यह अन्तर (भीतर) की शोभा है। कोई '*कपट सयानी*' नहीं करते, कृतज्ञ हैं, यह बाहरकी शोभा है।

नोट—१ '*न लच्छन हीना*' से यह मालूम हुआ कि लक्षणहीन नहीं है, पर इससे यह नहीं सिद्ध होता कि वे सब सुलक्षणयुक्त हैं, लक्षण तो शुभ और अशुभ दोनों प्रकारके शरीरपर होते हैं और लक्षणयुक्त भी सही, फिर भी न जाने उनमें वस्तुतः गुण हैं या नहीं। अतः अब कहते हैं कि सब 'गुणी' इत्यादि हैं।

वै०—'*कपट सयानी।*' मीठी बात कहकर कार्य साध लिया और पीछे विमुख हो गये, यह कपटकी चतुरता है। ☞यही बात आ० रा० राज्यकाण्ड १५। ६१ में इस प्रकार कही है—'**न शठा नैव वाचाला वञ्चका नो न हिंसकाः। न पाखण्डा नैव भण्डा न रण्डा नैव शौण्डिकाः॥**' कोई शठ, वाचाल, ठग, हिंसक, पाखण्डी, भाँड़, राँड़ वा मद्य पीनेवाला नहीं है।

---

* का० और १८४२ में 'घृनी' पाठ है। 'घृणा' शब्दका अर्थ तरस, दया, करुणा भी है।—'तां विलोक्य वनितावधे घृणां पत्रिणा सह मुमोच राघव'—(रघुवंश ११। १७, ९। ८१)। भा० दा० १८१७, १८१८ और रा० गु० द्वि० में 'पुनी' है। कोई कोई 'पुनी' का अर्थ पुनीत या पुण्यवान् करते हैं।

दो०—रामराज नभगेस सुनु सचराचर जग माहिं।
काल कर्म सुभाव गुन कृत दुख काहुहि नाहिं॥ २१॥

अर्थ—हे पक्षिराज! सुनिये! रामराज्यमें जगत्‌भरमें जड़-चेतनमें काल, कर्म, स्वभाव और गुणोंके किये हुए दुःख किसीको भी नहीं होते॥ २१॥

टिप्पणी—१ (क) *'नभगेस सुनु'* इति। यहाँ गरुड़को सावधान करते हैं कि देखो तुम श्रीरामजीको दुःखी समझते रहे हो। जिनके प्रतापसे जगत् सुखी हो, उनमें दुःख कहाँ है। (ख) काल, कर्म, स्वभाव, गुण—चारोंद्वारा जीवोंको कष्ट होते हैं, यथा—*'काल कर्म गुन सुभाव सब के सीस तपत॥'* (वि० १३०) शीत-उष्णादि दुःख कालद्वारा होते हैं, रोगादि दुःख कर्मसे होते हैं, शस्त्रपातादिक दुःख स्वभावकी क्रूरतासे होते हैं और मानापमानादि दुःख रज-तमादि गुणोंसे होते हैं।

नोट—१ *'काल'* समर्थ है। कालधर्म सबको व्यापता है। शुभ कालमें शुभ कर्म सिद्ध होते हैं। सतयुगमें सात्त्विक कर्म करते हैं। पर जब कलियुग आ जाता है, तब श्रीयुधिष्ठिर और श्रीपरीक्षितादिक-सरीखे धर्म-मूर्तियोंके चित्तमें भी विकार आ जाता है।

'कर्म' शुभ और अशुभ तथा सात्त्विक, राजस, तामस तीन प्रकारके होते हैं।

'गुण' सत्त्व, रज, तम तीन हैं। इनका कर्मोंपर बहुत प्रभाव पड़ता है।

'स्वभाव'—पूर्व-संस्कारोंसे एक सहज स्वभाव पड़ जाता है जो छूटता नहीं। कभी-कभी सङ्ग और कुसङ्गसे भी स्वभाव पड़ जाता है। जैसे कि ऋषिपुत्र वाल्मीकि बहेलिया हो गये थे और वे सप्तर्षिके सङ्गसे पुनः ऋषि हो गये। रामराज्यमें चारों चरणोंसे धर्म परिपूर्ण है; अतः अशुभ काल, कर्म, गुण और स्वभाव रहे ही नहीं, तब उनके द्वारा जो दुःख होता है वह कैसे रहता? वह भी न रह गया।

नोट—२ स्वभावकृत जैसे कि भूख-प्यास, पड़ी हुई लत या आदत वा व्यसनद्वारा जो दुःख हों, यथा—*'काल सुभाउ करम बरिआईं। भलेउ प्रकृति बस चुकइ भलाईं॥'* (१। ७। २) चस्का पड़ गया है छूटता नहीं और उसकी पूर्ति न होनेसे दुःख होता है। बा० ७ (२) देखिये। *'कालकर्म गुननि भरे॥'* (१२ छंद) *'बिबिध कर्म गुन काल सुभाऊ। ए चकोर सुख लहहिं न काऊ॥'* (३१। ५), *'काल कर्म सुभाउ गुन भच्छक॥'* (३५। ८) और *'काल कर्म स्वभाव गुन घेरा॥'* (४४। ५) में भी इन चारोंको गिनाया है, वहाँ देखिये।

२ काल-कर्मादिके सम्बन्धमें श्रीमद्भागवतमें कहा है कि **'कालकर्मगुणाधीनो देहोऽयं पाञ्चभौतिकः। कथमन्यांस्तु गोपायेत्सर्पग्रस्तो यथा परम्॥'** (भा० १। १३। ४५) अर्थात् यह पञ्चतत्त्वका बना हुआ शरीर काल, कर्म और मायाके गुणोंके अधीन है, यह शरीर दूसरे शरीरकी कैसे रक्षा कर सकता है, जिसको स्वयं सर्पने डसा है, वह दूसरेकी सर्पसे क्या रक्षा करेगा? (यह वचन देवर्षि नारदने युधिष्ठिरजीसे कहे हैं।) धर्मने भी इसी प्रकार परीक्षित्‌जीसे कहा है कि जीवोंको कौन क्लेश देता है यह हम नहीं कह सकते, क्योंकि हम अनेक मतोंसे मोहित हो रहे हैं, कोई आत्माको, कोई दैव (काल) को, कोई कर्मको और कोई स्वभावको दुःख-सुखका देनेवाला कहते हैं और कोई कहते हैं कि अनिर्देश्य ईश्वर ही सबका सञ्चालक है। कोई कहते हैं कि सुख-दुःखका कारण वह है जो कि तर्कद्वारा नहीं जाना जा सकता और न वाणीद्वारा बतलाया जा सके। यथा—**'केचिद्विकल्पवसना आहुरात्मानमात्मनः। दैवमन्ये परे कर्म स्वभावमपरे प्रभुम्॥ अप्रतर्क्यादनिर्देश्यादिति केष्वपि निश्चयः॥'** (भा० १। १७। १९-२०)

मीमांसक कर्मको, दैवज्ञ दैव या कालको और प्रकृतिवादी स्वभावको दुःखका कारण कहते हैं। अतः सबका मत यहाँ कहा गया।

बाहुकमें गोस्वामीजी अपना मत देते हैं कि *'माया जीव काल के करम के सुभाय के करैया राम बेद कहैं साँची मन गुनिए।'* (४४) जो इन सबोंका करनेवाला है, जो इन सबोंका प्रेरक है, जिनकी